UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178383

UNIVERSAL
LIBRARY

अमिट रेखाएं

[जीवन के हृदयस्पर्शी रेखा-चित्रों का संग्रह]

●

सम्पादिका

श्रीमती सत्यवती मल्लिक

भूमिका-लेखक

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

१९५१

सस्ता साहित्य मण्डल-प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

पहली बार : १९५१
मूल्य
तीन रुपये

मुद्रक
देवीप्रसाद शर्मा
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
नई दिल्ली

स्व० दीनबंधु एण्ड्रयूज

की

पुण्य स्मृति में

—सत्यवती मल्लिक

परिचय

कोई बारह वर्ष से ऊपर हो गये जब इस संग्रह का विचार बहन श्रीमती सत्यवती मल्लिक के हृदय में उत्पन्न हुआ था। उन दिनों 'विशाल भारत' में उनकी रचनाएं छप रहीं थीं और उसके पाठकों को वह अपनी सूक्ष्म बुद्धि, अद्भुत निरीक्षण-शक्ति, उत्कट प्रकृति-प्रेम तथा स्वाभाविक सहृदयता से मुग्ध कर रही थीं। संग्रह-सम्बन्धी उनके विचार का समर्थन करते हुए मैंने निवेदन किया था कि संग्रह ऐसा हो जो पुत्रियों को भेंट में दिया जा सके और साथ ही यह वचन भी दिया था कि उसकी भूमिका लिखने के लिये दीनबन्धु ऐण्ड्रयूज़ से प्रार्थना कर दी जायगी। चूंकि श्रीयुत मल्लिक सेण्ट स्टीफेंस कालेज के पुराने छात्र हैं, इसलिए दीनबन्धु पर मल्लिक-परिवार का कुछ अधिकार भी था। पुस्तक के प्रारम्भिक अंश श्रीमान् ऐण्ड्रयज़ साहब को दिखला भी दिये गए थे और उन्होंने भूमिका लिखना स्वीकार भी कर लिया था। दुर्भाग्य से उनके जीवनकाल में पुस्तक तैयार नहीं हो सकी। अब श्रद्धापूर्वक यह उन्हीं की पवित्र स्मृति में समर्पित की जा रही है।

इस संग्रह के पीछे एक व्यक्तित्व है, एक आत्मा है, एक योजना है। वस्तुतः इसमें सत्यवतीजी के आकर्षक व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब, उनकी सात्विक सुरुचि का प्रदर्शन और उनके समन्वयकारी दृष्टिकोण का प्रमाण विद्यमान है।

सत्यवतीजी उन अल्पसंख्यक भारतीय बहनों में से हैं जिन्हें हम सुसंस्कृत-से-सुसंस्कृत समाज में भारतीय आदर्शों के उदाहरणस्वरूप उपस्थित कर सकते हैं। उनका लालन-पालन वैदिक आदर्शों के अनुसार हुआ है और उनके पूज्य पिताजी लाला चिरंजीवलालजी श्रीनगर

(काश्मीर) के अत्यन्त प्रतिष्ठित आर्य कार्यकर्त्ता रहे हैं। पिताजी की उत्कट सेवा भावना और अनन्य साधना सुपुत्री में आकर मूर्तिमती बन गई है। पर यह सौभाग्य की बात है कि सत्यवतीजी का दृष्टिकोण किसी समाज या सम्प्रदाय विशेष तक ही सीमित नहीं रहा। मस्तिष्क के कपाट उन्होंने बन्द नहीं किये और जहां से भी उन्हें प्रकाश मिला है, वहीं से ग्रहण करने का प्रयत्न वे निरन्तर करती रही हैं। यह संग्रह हमारे इस कथन का स्पष्ट प्रमाण है।

हर्ष की बात है कि 'अमिट रेखाएं' किसी देश, जाति अथवा धर्म की सीमाओं से बद्ध नहीं। कहीं आपको इसमें दीनबन्धु सी. एफ. ऐण्ड्र्यूज की कोमल हृदया पूज्य माता का वृत्तान्त मिलेगा तो कहीं ऋषि कार्ल मार्क्स की पतिव्रता जयिनी मार्क्स का। 'टामकाका की कुटिया' की लेखिका श्रीमती स्टो की साधना के साथ-साथ सरोज नलिनी दत्त की सेवा-भावना की कहानी भी आपको इसमें पढ़ने के लिये मिलेगी। पूज्य माता कस्तूर बा के संस्मरण पाठकों के लिये उत्साहप्रद सिद्ध होंगे। इस संग्रह के व्यक्ति भिन्न-भिन्न जातियों तथा देशों के हैं। कोई अमरीकी है तो कोई अंग्रेज, कोई जर्मनी तो कोई चीनी, कोई हिन्दू तो कोई मुसलमान, कोई ढेड़ तो कोई कुम्हार। गरज़ यह कि जिन अतिथियों को सत्यवतीजी ने निमंत्रण दिया है उनमें कोई भेदभाव नहीं किया, केवल मनुष्यता ही उनकी कसौटी रही है। 'उदार चरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम'—इस सिद्धान्त के अनुसार यह संग्रह तैयार किया गया है। आज के युग में जब मनुष्य मनुष्य के बीच की खाई बढ़ती जा रही है, इस प्रकार का प्रयत्न निस्सन्देह अत्यन्त प्रशंसनीय है। इस संग्रह में कोई भी लेख ऐसा नहीं है जिसे सुविधा तथा मसाला मिलने पर सत्यवतीजी स्वयं न लिख सकतीं, फिर भी उन्होंने अन्य लेखकों के लेखों को सम्मिलित कर उन्हें गौरव प्रदान किया है। तदर्थ हम सब उनके ऋणी और कृतज्ञ हैं।

यद्यपि सत्यवतीजी को लिखते-लिखते लगभग पंद्रह वर्ष बीत चुके हैं और हिन्दी जगत् ने उनकी रचनाओं की पर्याप्त प्रशंसा भी की है, तथापि हमारी यह स्पष्ट सम्मति है कि उनके कार्य का अभी श्रीगणेश

ही हुआ है। हम इसे उस भावी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक यज्ञ की तैय्यारी ही मानते हैं, जो इस महानगरी — दिल्ली—में होने जा रहा है। बन्धुवर वासुदेवशरणजी अग्रवाल के इस कथन से हम सोलह आने सहमत हैं कि आगामी पच्चीस वर्षों में दिल्ली एशिया का केन्द्र बन जायगी और पचास वर्षों में अखिल जगत् की एक प्रेरक शक्ति । इस महान यज्ञ की तैयारी का भार मुख्यतया हिन्दी भाषा-भाषी जनता पर ही है और आज नहीं तो कल हिन्दी जगत् अपने इस कर्तव्य का अनुभव करेगा और तदर्थ उद्योग भी। आज जिस सहृदयता के साथ मल्लिक-परिवार भिन्न-भिन्न भाषाओं के साहित्य-सेवियों का अपने छोटे-से घर में स्वागत करता है, वह प्रतीक है उस महान स्वागत तथा सम्मान का जो कभी दिल्ली के भावी हिन्दी भवन में देश-विदेश के साहित्यिकों को मिलेगा। हम उस दिन का स्वप्न देख रहे हैं, जब दिल्ली के हिन्दी-भवन में भारतीय भाषा-संघ का प्रधान कार्यालय होगा, जनपदीय संस्कृतियों का संगम और जहां भिन्न-भिन्न देशों के विद्वान साहित्यिक तथा सांस्कृतिक विषयों पर विचार-परिवर्तन करेंगे। यही नहीं, जहां से नवीन प्रेरणा तथा नवीन उत्साह की धाराएं निकल कर समस्त भारतवर्ष को आप्लावित करती रहेंगी।

हम ऐसा प्रतीत होता है कि बहन सत्यवतीजी का समस्त जीवन इसी लक्ष्य की मानों तैयारी है। यद्यपि वे विनम्रता-पूर्वक अपने को एक साधारण कार्यकर्त्री ही मानती हैं, तथापि हमारा विश्वास है कि आगे चलकर वे इस यज्ञ की एक महान् होता ही बनेंगी। इसकी सामर्थ्य उनमें विद्यमान है।

कुण्डेश्वर
(टीकमगढ़)

—बनारसीदास चतुर्वेदी

दो शब्द

लगभग बारह वर्ष पूर्व 'अमिट रेखाएं' का अंकुर हम लोगों के मन में फूटा था। पूज्य बनारसीदासजी चतुर्वेदी के सहयोग से उसी समय एक विस्तृत सूची तैयार की गई और कई वर्ष की छानबीन के पश्चात् मैंने उस सूची के अनुसार सामग्री के संकलन का कार्य पूरा किया।

सुन्दर वस्तुओं के, वे चाहे चित्र हों या फूल-पत्ते, गीत हों अथवा कविताएं, संग्रह करने का मुझे हमेशा शौक रहा है। ऐसे कार्य मेरे लिए बहुत ही रोचक एवं मनोरंजक होते हैं। प्रस्तुत संग्रह में रेखा-चित्रों, संस्मरणों और विश्व के उत्कृष्ट साहित्य में से अनेक मार्मिक स्थलों के अतिरिक्त बहुत से सुन्दर रंगीन चित्र और फोटोग्राफ भी रक्खे गये थे; लेकिन विस्तारभय से उसमें पर्याप्त काट-छांट करनी पड़ी।

इधर इन वर्षों में हमारे देश में ही नहीं, विश्व-भर में अनेक परिवर्तन हुए, जिनके परिणाम-स्वरूप अपने अन्य साहित्यिक भाई-बहनों की भांति मेरा मन भी दूसरी आवश्यक चीजों की ओर चला गया और मुझे लगने लगा कि ऐसे समय में ऐसे छोटे-मोटे संकलन की ओर ध्यान देना क्या बच्चों की खिलवाड़-जैसा नहीं है ? किन्तु तभी मेरे अंतर से ध्वनि उठी कि नहीं, 'एक-दो-तीन', 'आठवां व्यक्ति,' 'नामदेव माली' 'जून देदी' आदि जीवन के यथार्थ चित्रण और उनमें व्यक्त भावनाएं ही आज के रोग एवं संघर्ष का निदान हैं। निस्संदेह ऐसे रेखा-चित्र, घटनाएं अथवा संस्मरण बारह वर्ष क्या, सैकड़ों वर्ष पुराने होकर भी पुराने नहीं हैं और युग-युगान्तर तक मानव-हृदय को स्पर्श करते रहेंगे। कविता, कहानी, उपन्यास, रेखाचित्र, निबंध किसी भी रूप में हमें ऐसे साहित्य को जनता के समक्ष लाना ही होगा।

'मेरी माताजी' शीर्षक लेखमाला का प्रारम्भ 'विशालभारत' और 'मधुकर' में आदरणीय चतुर्वेदीजी ने किया था। वस्तुतः चतुर्वेदीजी के उर्वर मस्तिष्क से साहित्य-जगत् में नित-नूतन वस्तुओं का सृजन होता रहता है। 'मेडम क्यूरी' रेखाचित्र का प्रारम्भिक अंश भी कई वर्ष पहले उन्होंने ही लिखा था। यह पुस्तक मुझे भी अत्यन्त प्रिय

है। दो बार मैंने उसे पढ़ा और महीनों तक वह मेरी साथिन बनी रही। इसका अनुवाद कर डालने की इच्छा अब भी मेरे मन में बनी है। कभी-कभी हमारे सामने अकस्मात् ऐसे संयोग आते हैं कि देखकर विस्मय होता है। मेडम क्यूरी की इसी पुस्तक के बारे में हाल में बहन सुशीला नैयर की पुस्तक 'बापू की कारावास-कहानी' में निम्न-लिखित शब्द पढ़ने को मिले :

"बापू (गांधीजी) मेडम क्यूरी की किताब पढ़ रहे हैं। कह रहे थे कि वह तो सच्ची तपस्विनी थी। मेरे मन में होता है कि पेरिस जाकर उसका घर देख आऊं। हमारे किसी वैज्ञानिक ने इतना दुख नहीं भोगा ...। मेडम क्यूरी की किताब से तो बस बापू चिपक गये हैं। उसकी एक लड़की बापू से दिल्ली में मिलने आई थी। वह थी ईव क्यूरी, इस किताब की लेखिका। आज बापू बहुत अफसोस से कह रहे थे, 'मुझे दु:ख है मैंने उस लड़की के साथ अच्छी तरह जान-पहचान नहीं करली।' शाम को मुझसे बोले, 'तुझे इस किताब का हिन्दी में सुन्दर अनुवाद करना है।' "

इन पंक्तियों ने मुझे अपने संग्रह के प्रकाशन में नवीन उत्साह और प्रेरणा दी है। बापू आज होते तो उन्हें यह स्केच दिखाने ले जाती। दीनबंधु होते तो उन्हें इस पुस्तक को देखकर बड़ी प्रसन्नता होती। उन्हीं के दैवी-गुणों के स्मरण-स्वरूप एक सुन्दर ग्रंथ की कल्पना मन में उदय हुई थी।

इन दोनों ही महापुरुषों का आराध्य मानव रहा है। यदि सामान्य पाठक के हृदय में इस संग्रह के रेखाचित्र तनिक भी करुणा एवं दैवी भावों का संचार कर सके तो मैं अपने इस अल्प प्रयास को सफल मानूंगी।

जिन लेखक व प्रकाशक बंधुओं की पुस्तकों अथवा पत्रों से इस संग्रह की सामग्री जुटाई गई है, उनसे परिवार का-सा स्नेह होने के नाते उन्हें धन्यवाद देना मेरी धृष्टता होगी। इसी प्रकार पुस्तक के संशोधन, क्रम तथा प्रकाशन आदि में जिन बंधुओं ने योग दिया है, उनका आभार शब्दों में स्वीकार करना मेरे लिए संभव नहीं है।

५/९०, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली। **—सत्यवती मल्लिक**

१५ दिसम्बर १९५१

विषय-सूची

		पृष्ठ
(अ) परिचय	पं० बनारसीदास चतुर्वेदी	३
(आ) दो शब्द	सत्यवती मल्लिक	
१. मेरी माताजी		
१. मेरी माताजी	महात्मा गांधी	५
२. मां	दीनबंधु एण्ड्रूज़	१६
३. अम्माजी	डा० कैलासनाथ काटजू	२८
४. मेरी माताजी	श्री जैनेन्द्रकुमार	४२
५. मेरी माताजी	सत्यवती मल्लिक	९४
२. अमर व्यक्तित्व		
१. आज़ाद की मां	श्री वी० जी० वैषम्पायन	६१
२. पतिव्रता जयिनी मार्क्स	पं० बनारसीदास चतुर्वेदी	६९
३. सरोज नलिनी दत्त	सत्यवती मल्लिक	८३
४. डोरोथी वर्ड्सवर्थ	सत्यवती मल्लिक	९२
५. राष्ट्रमाता बा	सत्यवती मल्लिक	१०२
६. अमर लेखिका : स्टो	पं० बनारसीदास चतुर्वेदी	१११
७. ग्रेस डार्लिंग	सत्यवती मल्लिक	११५
८. तपस्विनी मेडम क्यूरी	सत्यवती मल्लिक	१२५
३. नींव की ईंटें		
१. नामदेव माली	डा० अब्दुल हक़	१४९
२. पीताम्बर हकीम	पं० श्रीराम शर्मा	१५४
३. जून देवी	सत्यवती मल्लिक	१६१
४. सेवादास	पं० हरिभाऊ उपाध्याय	१६७
५. पं० जयरामजी	पं० बनारसीदास चतुर्वेदी	१७०

पृष्ठ

४. स्मृति की रेखाएँ

१. चीनी यात्री	श्री महादेवी वर्मा	१८३
२. क़ंदी	सत्यवती मल्लिक	१९४
३. बड़ी बी	डा० अख्तर हुसेन रायपुरी	२०२
४. टीपू सुलतान	श्री विष्णु प्रभाकर	२०६

५. अमर क्षण

१. एक-दो-तीन	श्रीमती मेरी बायल ओ'रीली	२१७
२. सातवां व्यक्ति		२२०
३. वह दिव्य आलिंगन!	पं० बनारसीदास चतुर्वेदी	२२१
४. वे कैसे जीते हैं?	पं० श्रीराम शर्मा	१२४
५. दो धनी		२२९
६. उत्सर्ग		२३१
७. भद्रजनों की श्रेणी में	सत्यवती मल्लिक	२३१
८. संयोग	सत्यवती मल्लिक	२३२
९. नूरी	सत्यवती मल्लिक	२३५
१०. मां-बेटा	डा० सुशीला नैयर	२३८
११. स्वातन्त्र्य-परिचय	श्री 'बनचर'	२४०
१२. बेचारा पीटर!		२४२
१३. सुकरात का विषपान	सत्यवती मल्लिक	२४४

अमिट रेखाएं

मेरी माताजी

१. मेरी माताजी

महात्मा गांधी

२. मां

दीनबन्धु एण्ड्रूज

३. अम्माजी

डा० कैलासनाथ काटजू

४. माताजी

श्री जैनेन्द्रकुमार

५. मेरी माताजी

सत्यवती मल्लिक

: १ :

मेरी माताजी

महात्मा गांधी

कबा गांधी के एक-एक करके चार विवाह हुए थे। पहली दो पत्नियों से दो लड़कियां थीं। अन्तिम पुतलीबाई से एक कन्या और तीन पुत्र हुए, जिनमें सबसे छोटा मैं हूं।

माताजी साध्वी स्त्री थीं, ऐसी छाप मेरे दिल पर पड़ी है। वह बहुत भावुक थीं। पूजा-पाठ किये बिना कभी भोजन न करतीं, सदा वैष्णव-मन्दिर जाया करतीं। जबसे मैंने होश संभाला, मुझे स्मरण नहीं कि उन्होंने कभी चातुर्मास छोड़ा हो। कठिन-से-कठिन व्रत करतीं और उन्हें निर्विघ्न पूरा करतीं। बीमार पड़ जाने पर भी वह व्रत न छोड़ती थीं।

ऐसा एक समय मुझे याद है, जब उन्होंने चान्द्रायण-व्रत किया था। बीच में बीमार पड़ गईं, पर व्रत न छोड़ा। चातुर्मास में एक बार भोजन करना तो उनके लिए साधारण बात थी। इतने से सन्तोष न मान कर एक बार चातुर्मास में उन्होंने हर तीसरे दिन उपवास किया। एक साथ दो-तीन उपवास तो उनके लिए एक साधारण बात थी। एक चातुर्मास में उन्होंने ऐसा व्रत लिया कि सूर्यनारायण के दर्शन होने पर ही भोजन किया जाए। इस चौमासे में हम लड़के आकाश की ओर देखा करते कि कब सूर्य दिखाई पड़े और कब मां खाना खायं। सब लोग जानते हैं कि चौमासे में अनेक बार सूर्य-दर्शन कठिनता से होते हैं। मुझे ऐसे दिनों की आज तक स्मृति है, जबकि

हमने सूर्य को निकला हुआ देखकर पुकारा है, "मां-मां, वह सूरज निकला।" ओर जबतक मां जल्दी-जल्दी दौड़कर आती हैं, सूर्य अस्त हो जाता है! मां यह कहती हुई लौट जातीं, "खैर, कोई बात नहीं, ईश्वर नहीं चाहता कि आज भोजन प्राप्त हो।" और अपने कामों में व्यस्त हो जातीं।

माताजी व्यवहार-कुशल थीं। राज-दरबार की सब बातें जानती थीं। रनवास में उनकी बुद्धिमत्ता ठीक-ठीक आंकी जाती थी। जब मैं बच्चा था, मुझे दरबार गढ़ में कभी-कभी वह साथ ले जातीं और बा मां साहब के साथ उनके कितने ही संवाद मुझे अब भी स्मरण हैं।...

१८८७ ईसवी में मैंने मैट्रिक पास किया। घर के बड़े-बूढ़ों की यह इच्छा थी कि पास हो जाने पर आगे कालेज में पढूं। कालेज में प्रविष्ट हुआ; किन्तु वहां सबकुछ मुझे कठिन दिखने लगा।...

हमारे कुटुम्ब के पुराने मित्र और सलाहकार एक विद्वान्, व्यवहार-कुशल ब्राह्मण जोशीजी थे। पिताजी के स्वर्गवास के बाद भी उन्होंने हमारे परिवार के साथ सम्बन्ध स्थिर रखा। छुट्टियों के दिनों में वे घर आए। माताजी और बड़े भाई के साथ बातें करते हुए मेरी पढ़ाई के विषय में पूछ-ताछ की और सम्मति दी कि मुझे विलायत जाकर बैरिस्टरी सीखनी चाहिए, जिससे लौटकर पिताजी के दीवान-पद को संभाल सकूं। उन्होंने मेरी ओर देखकर पूछा :

"क्यों, तुम्हें विलायत जाना पसन्द है या यहीं पढ़ना ?"

मेरे लिए यह 'नेकी और पूछ-पूछ' वाली बात हो गई। मैं कालेज की कठिनाइयों से तंग तो आ ही गया था। मैंने कहा, "विलायत भेजो तो बहुत ही अच्छा। कालेज में शीघ्र पास हो जाने की आशा नहीं जान पड़ती।"

तब उन्होंने माताजी की ओर देखकर कहा—"आज तो मैं जाता हूं। मेरी बात पर विचार कीजिएगा।"

बस मैंने हवाई किले बांधने आरम्भ किए। बड़े भाई चिन्तित हो गए। रुपये का क्या प्रबन्ध करें? फिर मुझ-जैसे नवयुवक को इतनी दूर कैसे भेज दें ?

माताजी बड़ी द्विविधा में पड़ गईं। दूर भेजने की बात तो उन्हें अच्छी न लगी; परन्तु शुरू में तो उन्होंने यही कहा—"हमारे कुटुम्ब में तो अब चाचा ही बड़े-बूढ़े हैं। इसलिए पहले उन्हीं की सम्मति लेनी चाहिए। यदि वे आज्ञा दे दें तो फिर सोचेंगे।"...

पोरबन्दर पहुंचा। चाचाजी को साष्टांग प्रणाम किया। उन्होंने सुन कर उत्तर दिया, "विलायत जाकर अपना धर्म स्थिर रख सकोगे या नहीं, यह मैं नहीं जानता। सारी बातें सुनकर तो मुझे संदेह ही होता है। देखो ना, बड़े-बड़े बैरिस्टरों से मिलने का मुझे अवसर मिलता है। मैं देखता हूं कि उनके और साहब लोगों के रहन-सहन में कोई भेद नहीं। उन्हें खान-पान का तनिक भी परहेज़ नहीं होता। सिगार तो मुंह से अलग ही नहीं होता। पहनावा भी देखो तो नंगा। यह सब अपने परिवार को शोभा नहीं देता। पर मैं तुम्हारे विचार में विघ्न नहीं डालना चाहता। मैं थोड़े ही दिनों में तीर्थ-यात्रा को जाने वाला हूं। मेरे जीवन के अब कुछ हीं दिन शेष हैं. सो मैं तो ज़िन्दगी के किनारे तक पहुंच गया हूं। तुमको विलायत जाने की, समुद्र-यात्रा करने की आज्ञा कैसे दूं? पर मैं तुम्हारा मार्ग न रोकूंगा। वास्तविक आज्ञा तो तुम्हारी माताजी की है। यदि वह तुम्हें अनुमति दे दें तो तुम शौक से जाओ। उनसे कहना कि मैं तुम्हें न रोकूंगा, मेरी आशीष तो तुम्हें है!"

"इससे अधिक की आशा मैं आपसे नहीं कर सकता। अब मुझे माताजी को राज़ी कर लेना है।"

पर माताजी क्योंकर मानतीं? उन्होंने विलायत के जीवन के सम्बन्ध में पूछताछ आरम्भ की। किसी ने कहा—नवयुवक विलायत जाकर बिगड़ जाते हैं। कोई कहता था—वे मांस खाने लग जाते हैं। किसी ने कहा—शराब पिये बिना नहीं चलता। माताजी ने यह सब मुझसे कहा। मैंने समझाया कि तुम मुझपर विश्वास रखो, मैं विश्वासघात न करूँगा। मैं सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि मैं इन तीनों बातों से बचूंगा। और यदि ऐसी जोखिम की ही बात होती तो जोशीजी क्यों जाने की सलाह देते?

माताजी बोलीं—"मुझे तेरा विश्वास है; पर दूर देश में तेरा कैसे क्या होगा ? मेरी बुद्धि तो काम नहीं करती। मैं बेचरजी स्वामी से पूछूंगी।"

बेचरजीस्वामी बनिये से जैन साधु हुए थे। जोशीजी की भांति परामर्श देने वाले भी थे। उन्होंने मेरी सहायता की और कहा कि मैं इससे तीनों बातों की प्रतिज्ञा लिवा लूंगा। फिर जाने देने में कोई हानि नहीं।

तदनुसार मैंने मांस, मदिरा आदि से दूर रहने की प्रतिज्ञा की और तब माताजी ने भी आज्ञा दे दी।...

जहाज़ में समुद्र से मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ। पर ज्यों-ज्यों दिन जाते, मैं असमंजस में पड़ता जाता। किसी से बोलते हुए झेंपता। अंग्रेजी में बातचीत करने की आदत न थी। यात्री प्रायः सब अंग्रेज़ थे। वे मुझसे बोलने की चेष्टा करते तो उनकी बातें मेरी समझ में न आतीं और यदि समझ भी लेता तो उत्तर क्या दूं, यह सोचना पड़ता।

छुरी-कांटे से खाना जानता न था और पूछने का साहस भी न होता था कि इसमें बिना मांस की चीज़ें क्या-क्या हैं ? इस कारण मेज पर तो मैं गया ही नहीं। अपने कमरे में ही खा लेता। घर से जो मिठाइयां आदि अपने साथ ले रखी थीं, उन्हीं पर प्रधानतः निर्वाह करता रहा।...

मुझपर दया दिखाते हुए एक भले अंग्रेज़ ने मुझसे बात-चीत करना आरम्भ कर दिया। वह मुझसे बड़े थे। मैं क्या खाता हूं ? कौन हूं ? कहां जा रहा हूं ? क्यों किसी से बातचीत नहीं कर पाता, इत्यादि प्रश्न पूछते। मुझे भोजन के लिए मेज़ पर जाने की प्रेरणा करते। मांस न खाने के मेरे आग्रह की बात सुनकर एक दिन हंसे और कहने लगे, "यहां तो—अर्थात् पोर्ट-सईद तक तो - ठीक है; परन्तु आगे उप-सागर में पहुंचने पर तुम्हें अपने विचार बदलने पड़ेंगे। इंगलैण्ड में तो इतना जाड़ा पड़ता है कि मांस के बिना काम चल ही नहीं सकता। मैं शराब पीने के लिए तुमसे नहीं कहता, पर मैं समझता हूं कि मांस तो तुम्हें अवश्य खाना चाहिए।"

मैंने कहा, "आपकी सम्मति के लिये मैं आपका आभारी हूं, पर मैंने अपनी माताजी को वचन दिया है कि मैं मांस न खाऊंगा।...यदि उसके बिना इगलैण्ड न रह सकते हों तो मैं पुनः हिन्दुस्तान को लौट जाऊँगा, पर मांस कदापि न खाऊँगा।"

किसी प्रकार दुःख-सुख उठा कर हमारी यात्रा पूरी हुई।

मुझे याद पड़ता है, उस दिन शनिवार था। मैं जहाज़ पर काले वस्त्र पहनता था। मित्रों ने मेरे लिये सफेद फलालैन के कोट-पतलून भी बना दिये थे। मैंने सोचा था कि विलायत में, उतरते समय, मैं उन्हें पहनूंगा। सफेद कपड़े सम्भवतः अधिक अच्छे दिखाई देते हैं, यह समझ कर मैं उसी वेश में जहाज़ से उतरा; किन्तु इस लिबास में केवल अपने को ही वहां पाया। मेरा सामान और तालियां भी ग्रिडले कम्पनी के गुमाश्ते लोगों के पास ही चली गई थीं।

मेरे पास चार परिचय-पत्र थे, जिनमें एक डाक्टर प्राणजीवन मेहता के नाम था। डाक्टर मेहता को मैंने रास्ते में से ही तार दे दिया था। जहाज़ में से किसी ने सुझाव दिया था कि विक्टोरिया होटल में ठहरना ठीक होगा।...मैं तो अपने सफेद वस्त्रों की लज्जा में ही बुरी तरह झेंप रहा था। फिर होटल में जाकर पता चला कि कल रविवार होने के कारण सोमवार तक ग्रिडले के यहां से सामान न आ पावेगा। इसी से मैं बड़ी द्विविधा में पड़ गया।

सात-आठ बजे डाक्टर मेहता आए। उन्होंने प्रेम-भाव से मेरा खूब मज़ाक उड़ाया। मैंने अनजान में उनकी रेशमी रोएं वाली टोपी देखने के लिए उठाई और उसपर उलटी ओर हाथ फेरने लगा। टोपी के रोएं खड़े हो गये। यह डाक्टर मेहता ने देखा और रोक दिया; पर क़सूर तो हो हो चुका था। इतना समझ गया कि आगे से कोई चेष्टा ऐसी न होनी चाहिए।

यहां से मैंने यूरोपियन रीति-नीति का प्रथम-पाठ पढ़ना आरम्भ कर दिया। डाक्टर मेहता हंसते जाते और बहुतेरी बातें समझाते जाते, "किसी वस्तु को यहां छूना न चाहिए। भारतवर्ष में परिचय होते ही

जो बातें सहज में पूछी जा सकती हैं, वे यहां न पूछनी चाहिए। बातें ऊंची आवाज़ में न करनी चाहिए। हिन्दुस्तान में साहबों के साथ बातें करते हुए 'सर' कहने का जो रिवाज है, वह यहां अनावश्यक है। 'सर' तो नौकर अपने मालिक को या अफ़सर को कहता है।...होटल में खर्चा अधिक पड़ेगा, इसीलिए किसी कुटुम्ब के साथ रहना ठीक होगा।" इत्यादि बातें सुझाकर डाक्टर मेहता विदा हुए।...

होटल में आते ही लगा, मानो कहीं आ घुसे हों। खर्चा भी इतना अधिक कि मैं भौंचक्का रह गया। तीन पौंड देकर भी भूखा ही रहा। न वहां की कोई चीज़ ही अच्छी लगी। एक उठाई, वह न भाई, तब दूसरी ली। पर दाम तो दोनों का देना पड़ता। अभी तक तो प्राय: बम्बई से लाये हुए खाद्य पदार्थों पर ही निर्वाह करता आ रहा था।

होटल का बिल चुकाकर अपने एक मित्र के साथ दो कमरे किराये पर लिए; किन्तु उस कमरे में पहुंचते ही मैं बड़ा दुखी हुआ। देश बहुत अधिक याद आने लगा। माताजी का प्रेम साक्षात् सामने दिखाई पड़ता। रात होते ही 'रुलाई' शुरू होती। घर की तरह-तरह की बातें स्मरण हो आतीं। उस तूफान में भला नींद क्यों आने लगी? फिर यह दुःख की बात भी किसी से कह न सकता था। कहने से लाभ ही क्या था! मैं स्वयं ही न जानता था कि मुझे कैसे सान्त्वना मिलेगी। लोग निराले, रहन-सहन निराली, मकान भी निराले और घरों में रहने के नियम-ढंग भी निराले। फिर यह भी भली प्रकार नहीं मालूम कि किस बात के बोल देने में अथवा क्या करने से यहां के शिष्टाचार का या नियम का भंग होता है। इसके अतिरिक्त खान-पान का परहेज़ अलग। जिन वस्तुओं को मैं खा सकता था, वे रूखी-सूखी जान पड़ती थीं। इस प्रकार मेरी दशा सांप-छछूंदर जैसी हो गई थी। विलायत में अच्छा न लगता था और देश को लौट नहीं सकता था। और अब तो दो-तीन वर्ष पूरा करके ही लौटने का निश्चय था।

डाक्टर मेहता सोमवार को मुझसे मिलने आए। मेरी अज्ञानता से जहाज में मुझे खुजली हो गई थी। जहाज में खारी पानी से नहाना पड़ता। उसमें साबुन घुलता नहीं। इधर में साबुन से स्नान करने में सभ्यता समझता था। इसलिए शरीर साफ होने के बदले चिकटा गया और मेरे दाद हो गया। डाक्टर ने तेजाब-सा 'ऐसिटिक एसिड' दिया, जिसने मुझे रुलाकर छोड़ा।

डाक्टर मेहता ने हमारे कमरे आदि को देखकर सिर हिलाया और कहा, "यह मकान काम का नहीं। इस देश में आकर पुस्तकें-मात्र पढ़ने की अपेक्षा यहां का अनुभव प्राप्त करना कहीं अधिक अच्छा है। इसके लिए किसी कुटुम्ब में रहने की आवश्यकता है। इतने दिन में तुम्हें अपने एक मित्र के यहां कुछ बातें सीखने के लिए रखूंगा।" मैंने सधन्यवाद बात मान ली। उन मित्र के यहां गया। उन्होंने मेरे आतिथ्य में तनिक भी कमी न रखी। मुझे अपने सगे भाई की भांति रखा, अंग्रेज़ी में बातचीत करने की कुछ टेव भी मुझमें डाली।

पर मेरे भोजन का प्रश्न बड़ा विकट हो गया। बिना नमक-मिर्च, मसाले का साग भाता नहीं था। गृह-स्वामिनी मेरे लिये पकाती भी क्या?

प्रातः जौ का दलिया-सा बनता, उससे कुछ पेट भर जाता; पर दोपहर और सायंकाल को हमेशा भूखा रहता।

यह मित्र मांसाहार के लिये नित्य समझाते; पर मैं अपनी प्रतिज्ञा का नाम लेकर चुप ही रहता। उनकी युक्तियों का उत्तर न दे सकता था। दोपहर को केवल रोटी और चोलाई का साग तथा मुरब्बे पर निर्वाह करता। यही शाम को भी। मैं देखता था कि रोटी के तो दो ही तीन टुकड़े ले सकते हैं। अतः अधिक मांगते हुए झेंप लगती। फिर मेरा आहार भी काफी था। दोपहर या शाम को दूध भी नहीं मिलता था। मेरी दशा देखकर वह मित्र एक दिन झल्लाए और बोले, "देखो, यदि तुम मेरे सगे भाई होते तो मैं तुमको अवश्य ही देश लौटा देता। निरक्षर मां को, यहां की स्थिति जाने बगैर, दिये गए वचन का क्या

मूल्य ! इसे कौन प्रतिज्ञा कहेगा ? ऐसी प्रतिज्ञा लिए बैठे रहना अंध-विश्वास के अतिरिक्त कुछ नहीं ।"

ऐसी युक्तियां प्रतिदिन चलतीं और ज्यों-ज्यों वह मित्र मुझे समझाते, मेरी दृढ़ता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती । नित्य ही मैं ईश्वर से अपनी रक्षा की याचना करता और वह पूरी होती । मैं यह तो नहीं जानता था कि ईश्वर क्या वस्तु है ? पर...

मैंने घूमना आरम्भ किया और निरामिष भोजन-गृह की खोज की । गृह- स्वामिनी ने कहा था कि लन्दन शहर में ऐसे गृह हैं अवश्य ।

मैं १०-१२ मील नित्य घूमता । इस भांति भटकते हुए एक दिन मैं फेरिंग्टन स्ट्रीट पहुंचा और 'वेजिटेरियन रेस्ट्रां' (निरामिष-भोजनालय) नाम पढ़ा । बच्चे को मनचाही वस्तु प्राप्त कर लेने से जो आनन्द होता है, वही मुझे हुआ । हर्षोन्मत्त होकर मैं अन्दर पहुंचा था कि कांच की खिड़की में विक्रयार्थ पुस्तकें देखीं । उनमें मुझे अन्नाहार पर सॉल्ट की एक पुस्तक मिल गई । मेरे हृदय पर उसकी अच्छी छाप पड़ी और अब सोच-समझकर अन्नाहार का भक्त हुआ । माताजी के सामने की हुई प्रतिज्ञा अब मुझे विशेष आनन्ददायक हो गई ।

निःसन्देह इस प्रतिज्ञा-पालन में मुझे अनेक ऐसी वस्तुएं भी छोड़नी पड़ीं, जिनका स्वाद जिह्वा को लग गया था, अर्थात् अण्डे आदि से बनी वस्तुएं; किंतु अत्यन्त सादा, साधारण भोजन खाकर स्वच्छ और स्थायी स्वाद मुझे उस क्षणिक स्वाद से अधिक प्रिय जान पड़ा ।

सच्ची परीक्षा तो अभी आगे आने वाली थी, उसका सम्बन्ध था दूसरे व्रत से; परन्तु—

"जाको राखे साइयां,
मार सके ना कोय ।"

विलायत में रहते हुए दो थियोसाफिस्ट मित्रों से भेंट हुई । उन्होंने मुझसे गीता की बात पूछी । वे दोनों उस समय स्वयं गीता के अंग्रेजी अनुवाद को पढ़ रहे थे; पर मुझे उन्होंने अपने साथ संस्कृत में गीता पढ़ने के लिए कहा । मैं लज्जित हुआ; क्योंकि मैंने तो गीता न संस्कृत

में, न प्राकृत ही में पढ़ी थी। तो भी झेंपते हुए अपने संस्कृत के अल्प ज्ञान के साथ ही मेरा गीता-वाचन आरम्भ हुआ। दूसरे अध्याय के

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते,
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति-विभ्रमः।
स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

अर्थात्--"विषय का चिन्तन करने से, पहले तो उसके साथ संग उत्पन्न होता है और संग से काम की उत्पत्ति होती है, कामना के पीछे-पीछे क्रोध आता है। फिर क्रोध से संमोह और मोह से स्मृति-भ्रम; स्मृति-भ्रम से बुद्धि का नाश होता है और अन्त में मनुष्य स्वयं ही नष्ट हो जाता है।" इन श्लोकों का मेरे चित्त पर गहरा प्रभाव पड़ा। बस कानों में यही ध्वनि दिन-रात गूंजा करती। तब मुझे प्रतीत हुआ कि भगवद्गीता तो अमूल्य ग्रंथ है। यह धारणा दिनों-दिन अधिक दृढ़ होती गई और बाद में तो निराशा के समय सदा ही गीता ने मेरी मां की भांति ही रक्षा की है। इस भांति मुझे अपने धर्म-शास्त्रों का तथा संसार के अन्य धर्मों का भी कुछ परिचय तो मिला; किंतु इतना ज्ञान मनुष्य को बचाने के लिए पर्याप्त नहीं होता। आपत्ति के समय जो वस्तु मनुष्य को बचाती है, उसका उसे उस समय न तो भान ही रहता है, न ज्ञान ही। ... परिणाम के बाद वह ऐसा अनुमान कर लेता है कि धर्म-ग्रंथों के अध्ययन से ईश्वर हृदय में प्रकट होता है! ...लेकिन बचते समय वह नहीं जानता कि उसे उसका संयम बचाता है या कोई और।

अब मैं बीस वर्ष का हो गया था। विलायत में मेरे अन्तिम वर्ष में, अर्थात् सन् १८९० में पोर्टस्मिथ में अन्नाहारियों का एक सम्मेलन हुआ। उसमें मुझे तथा एक और भारतीय मित्र को निमन्त्रण मिला था। हम दोनों वहां गये और स्वागत-समिति द्वारा चुने हुए ऐसे घर में ठहराए गए, जहां के लोगों के आचार-व्यवहार के विषय में उन्हें निर्दोष नहीं कहा जा सकता।

पोर्टस्मिथ मल्लाहों का बन्दर कहा जा सकता है।

रात हुई। हम सभा से लौटे और भोजन के बाद ताश खेलने बैठे। विलायत में अच्छे घरों में भी गृहिणी, अतिथियों के साथ ताश खेला करती है। ताश खेलते समय सब लोग निर्दोष मज़ाक करते हैं; परन्तु यहां तो गंदा विनोद शुरू हुआ।

मैं नहीं जानता था कि मेरे साथी इसमें निपुण हैं। मुझे इस विनोद में मनोरंजकता लगने लगी। मैं भी सम्मिलित हुआ।

पर मेरे साथी के हृदय में भगवान जगे। वह बोले :

"तुम और यह कलियुग! यह पाप! यह तुम्हारा काम नहीं! भागो, यहां से।"

मैं लज्जित हुआ। हृदय में मित्र का उपकार माना। माता से की हुई प्रतिज्ञा याद आई। सम्मेलन दो दिन और होने वाला था; किंतु जहां तक मुझे स्मरण है, दूसरे दिन ही पोर्टस्मिथ छोड़ दिया और अत्यन्त सचेत रहकर जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया।

परीक्षाएं पास कीं। १० जून १८९१ को मैं बैरिस्टर हुआ। ११ तारीख को इंगलैंड हाईकोर्ट में ढाई शिलिंग देकर अपना नाम रजिस्टर कराया। १२ जून को भारतवर्ष लौट आने के लिए रवाना हुआ।

परन्तु मेरी निराशा का कुछ ठिकाना न था। क़ानून मैंने पढ तो लिया—क़ानून की पुस्तकों में कितने ही धर्म-सिद्धान्त मुझे मिले जो मुझे अच्छे लगे; किन्तु व्यवहार में कैसे इन सिद्धान्तों का उपयोग किया जाता होगा!...

इसके अतिरिक्त जातिवालों का भी प्रश्न था।

इस प्रकार कितनी ही आशा, निराशा और सुधारों का मिश्रण लेकर मैं कांपते पैरों से, 'आसाम' स्टीमर से बम्बई बन्दर पर उतरा। एक और अकल्पित चिन्ता खड़ी हो गई।

माताजी के दर्शन करने के लिए मैं अधीर हो रहा था। जब हम डॉक पर पहुंचे तो मेरे बड़े भाई वहां उपस्थित थे।

माताजी के स्वर्ग-वास के बारे में मुझे इससे पूर्व कोई सूचना न मिली थी। घर पहुंचने पर मुझे यह समाचार सुनाया गया। यह खबर

मुझे विलायत में भी दी जा सकती थी; पर इस विचार से कि मुझे आघात कम पहुंचे, मेरे बड़े भाई ने बम्बई पहुंचने तक मुझे सूचना न देने का ही निश्चय किया।

अपने इस दुःख को मैं ढके ही रखना चाहता हूं। पिताजी की मृत्यु से अधिक आघात मुझे इस समाचार को पाकर पहुंचा। मेरे कितने ही सुनहले स्वप्न, कल्पनाएं, मिट्टी में मिल गईं। पर मुझे स्मरण है कि इस समाचार को सुनकर मैं रोने-चीखने नहीं लगा था। आंसू तक नहीं आने दिये थे और इस तरह व्यवहार किया, मानों माताजी की मृत्यु हुई ही न हो।

: २ :

मां

दीनबन्धु एण्ड्रयूज़

बहुत वर्षों के बाद अबकी बार मैं भारत से इंगलैण्ड आया हूं और इस बार मुझे मां की जितनी याद आई है, उतनी पहले कभी नहीं आई थी।

आज इस बात को लगभग पच्चीस वर्ष बीत गए। फरवरी सन् १९०४ में जाड़े के दिन थे। बर्फ़ पड़ रही थी। आकाश में भयंकर अंधकार था। सर्दी का क्या पूछना! इसके अगले दिन सन्ध्या के समय मैंने मां से भारतवर्ष आने के लिए आज्ञा मांगी थी। घुटने टेककर मैं उनके सम्मुख प्रार्थना करने के लिए उसी तरह बैठ गया, जैसे उस समय बैठा करता था, जब मैं छोटा-सा बच्चा था। प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल उनके सामने ऐसे ही प्रणाम किया करता था। वह बीमार-सी थीं। दुर्बल भी। उन्हें घर पर छोड़कर हज़ारों मील दूर भारत को जाना था। उनका वियोग मेरे हृदय को अत्यन्त दुखित कर रहा था। थोड़ी देर के लिए मेरे जी में बड़ा पछतावा रहा कि मैं उनको छोड़ कर कहां इतनी लम्बी यात्रा पर जा रहा हूं! उनका स्वास्थ्य ठीक न था और मेरे मन में रह-रह कर संशय उठता था कि अब अपनी मां के दर्शन फिर न कर सकूंगा। यह उनके अन्तिम दर्शन हैं। रेल में शीत के मारे ठिठुरा हुआ बैठा, चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न कर रहा था। जीवन में यात्राएं तो बहुत की थीं, पर इतना दुःख कभी न हुआ था। बार-बार यही बात मन में आती थी कि कहीं मां को वृद्धावस्था में घर छोड़कर भारतवर्ष जाने में भूल तो नहीं की!

उस समय मुझे दो बातों से धीरज बंधा था। एक तो यह कि मैं समझता था कि मैं परमात्मा के आदेश से, जो मुझे अपने अंतःकरण में सुनाई पड़ता था और जिसकी मैं उपेक्षा नहीं कर सकता था, भारत जा रहा हूं। दूसरी बात यह कि स्वयं मेरी मां 'कर्तव्य' को सबसे बढ़कर समझती थीं। वे सदा हम सबको सिखाया करती थीं कि बेटा, पहले अपना कर्तव्य-पालन करो, पीछे कुछ और। जिस संध्या को मैं अन्तिम प्रणाम करके मां से विदा हुआ, उस समय चुपचाप उन्होंने आंसू बहाये। किंतु प्रकट में वे मुझे निरंतर उत्साहित ही करती रहीं। जिस दिन मैंने उनसे कहा था, "मां! मैं प्रभु ईसा के धर्म-प्रचार करने के लिए भारतवर्ष जाऊंगा।" तो उन्होंने यही कहा, "बेटा, अवश्य जाना। मैं आशीर्वाद दूंगी।" मेरी मां की अपने धर्म में प्रबल श्रद्धा थी और धर्म के लिए वह प्रेम-पूर्वक अपना सर्वस्व अर्पित कर सकती थीं।

इसके बाद वे बहुत दिनों तक जीवित रहीं और मैंने उन्हें अन्तिम प्रणाम सन् १९१२ में किया।

इस बार इंगलैण्ड आकर मैंने उन सब स्थानों को, जहां मैं अपनी बाल्यावस्था में रहा था और जहां मैंने अपने बचपन के खेल खेले थे, एक-एक करके देखा।

मेरी समझ में यह बात अब पहले की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट हो उठी है कि वास्तव में कैसे निर्धन कुटुम्ब में मेरा लालन-पालन हुआ था। मेरे पिताजी बकिंघम के दो मकानों में रहे थे। पहले एक में, फिर उसके बाद दूसरे में। ये दो मकान दो भिन्न-भिन्न गलियों मे थे और बहुत छोटे थे। मेरे भाई-बहन बहुत-से थे। इतने बाल-बच्चों को लेकर छोटे-से घर में रहना, वस्तुतः मेरे माता-पिता के लिए बड़ा कष्ट-दायक रहा होगा। मेरी समझ में आता ही नहीं कि तेरह बाल-बच्चों वाला परिवार इन छोटे घरों में कैसे रहा होगा?

जब मेरे पिताजी मुझे अपने साथ लेकर गांवों को जाते थे तो उस समय मैं खुशी के मारे पागल हो जाता था। मां तो शायद ही

कभी साथ चलतीं, क्योंकि उन्हें घर के काम-काज से ही फ़ुरसत नहीं मिलती थी और उन कामों को अधूरा छोड़कर घर से बाहर निकलना उन्हें पसन्द नहीं था। इन घर-गृहस्थी के कामों के बोझ से वे पिसी जाती थीं; पर आत्म-त्याग की मात्रा उनमें इतनी अधिक थी कि अपने सुख और आनन्द का तो उन्हें कभी विचार भी नहीं आता था।

आज पचास वर्ष पहले की कई घटनाएं ज्यों की-त्यों मेरी आंखों के सामने ऐसी स्पष्ट दीख पड़ती हैं, मानों किसी ने चित्र खींच दिया हो।

पुराने मकान को छोड़कर मेरे पिताजी जिस घर में आए, वह कुछ बड़ा था और उसमें बड़ा सुभीता था। हम बच्चों के लिए तो ईश्वरीय देन थी उस मकान के पीछे की छोटी-सी वाटिका।

उस नये घर की एक घटना मुझे भली प्रकार स्मरण है। वह यह कि हमारे घर से सात मील की दूरी पर एक बाग था, जिसका नाम था 'सटुन पार्क'। उसमें कई छोटे-छोटे तालाब थे। वहां कितने ही पेड़ तथा झाड़ियां थीं और प्रकृति वहां स्वतन्त्र रूप से अपना रंग दिखला रही थी। एक दिन मैं अपने बड़े भाई के साथ इसी उपवन की सैर के लिए घर से निकल पड़ा। उस समय मैं बारह वर्ष का था; पर दुर्बल होने के कारण सात मील की यात्रा मेरे लिए लम्बी थी। एक दलदल के ऊपर होकर हम लोग निकले। बालक तो थे ही, इसी तरह आपदाओं में पड़कर आनन्द लेना हमें अत्यन्त रुचिकर था। बड़ी देर तक हम इस बगीचे में ऊधम मचाते रहे। फिर मुझे एक पेड़ पर किसी जंगली चिड़िया के घोंसले में तीन अण्डे दिखाई पड़े। वे अण्डे कुछ कुछ नीले रंग के थे और उनपर छोटे-छोटे काले धब्बे थे। मैंने ऐसे अण्डे पहले कभी नहीं देखे थे। आश्चर्य के साथ मैंने उन अण्डों को उठाकर अपनी टोपी में रख लिया और भाई के साथ घर को वापस चल दिया। सात मील चलते-चलते थक गया। जब थकावट कुछ दूर हुई तो मैंने वे तीनों अण्डे मां को दिखलाए और कहा, "देखो मां, कैसे बढ़िया रंग के अण्डे हैं!" मुझे आशा थी कि मां उनकी प्रशंसा करेंगी; पर उन्होंने तो दूसरी ही बात कही—

"अरे चार्ली, तूने यह क्या किया ? सोचो तो सही—वह बेचारी चिड़िया अपने घोंसले को लौटकर आई होगी और जब उसे मालूम हुआ होगा कि कोई उसके सभी अण्डे चुरा ले गया तो उसे कितना दुःख हुआ होगा। कल्पना करो ! वह इसी समय अपने नन्हें से नीड़ के चारों ओर कैसे मंडरा रही होगी और दुःख भरे स्वर में चिल्ला रही होगी। वैसे तो लाने की आवश्यकता ही नहीं थी ? और यदि लाना ही था तो एक अण्डा ले आते ! कम-से-कम दो तो उस बेचारी के लिए छोड़ आते। तुम तो तीनों ही उठा लाये। प्यारे बच्चे, तूने यह क्या किया ?"

मां की बात सुनते ही मेरे मस्तिष्क में उस चिड़िया का चित्र खिंच गया। कैसे वह अपने घोसले के चारों ओर चक्कर काट रही होगी ! यद्यपि मैं थका हुआ था, पर उस रात मुझे नींद नहीं आई। बाद में क्या हुआ, इसकी मुझे ठीक-ठीक याद नहीं; पर मेरा विश्वास है कि मैं अवश्य ही दूसरे दिन प्रातःकाल उन अण्डों को लेकर उस उपवन में गया होऊंगा। पर सम्भवतः मुझे वह घोंसला नहीं मिला और इसलिए मेरी आत्मा अपने अपराध के बोझ से मुक्त न हो सकी। उस घटना की स्मृति मेरे चेतन मस्तिष्क पर से मिट जाने पर भी वह भीतर जमकर बैठ गई। वह मर्मान्तक पीड़ा जो अपनी माता के वचन सुनकर मुझे हुई थी, मैं अब तक नहीं भूला।

वह आज भी मेरी आंखों के सामने है। मानो मां ने मुझे अपने पास बिठला लिया है और बड़े कोमल स्वर में तथा मधुर डांट के साथ, जो मेरे लिए सबसे बड़ी सजा थी, कह रही हैं, "अरे, चार्ली, तूने यह क्या किया ?"

× × ×

अपनी बाल्यावस्था में एक सबसे सुन्दर बात जो मुझे जान पड़ती थी वह यह थी कि मेरे पिताजी मां को अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। वैवाहिक जीवन में प्रायः स्त्री-पुरुष के स्वभाव तथा प्रकृति में अन्तर हुआ करते हैं। स्त्री की प्रकृति कुछ और होती है, पुरुष की कुछ और।

मेरे पिताजी सदा से भावुक, जोशीले और बड़े प्रेमी व्यक्ति थे। उदार तो इतने कि उनकी उदारता फ़िज़ूलखर्ची की सीमा तक पहुंच जाती थी। जब कभी कोई दुःख-भरी कहानी लेकर उनके पास पहुंचता था तो वे उसपर विश्वास करने के लिए सदा तैयार-से बैठे रहते थे। शिष्टता तथा मान-मर्यादा के लिए भी उनके दिल में पर्याप्त स्थान था। अत्याचार-पीड़ित दीन-दुखियों का पक्ष-समर्थन करने के लिए वे सदा इच्छुक रहते थे।

मेरी मां पिताजी के इन भावों को समझती थीं और उनके हृदय में भी ऐसे ही भाव थे। पर मां में पिताजी की अपेक्षा विवक-बुद्धि अधिक थी। चौदह बाल-बच्चों की माता होने के कारण सर्वप्रथम उन्हें अपनी सन्तान की आवश्यकताओं का ध्यान रखना पड़ता था। यद्यपि वे बड़ी उदार थीं और जब उन्हें इस बात का पता लग जाता कि कोई व्यक्ति वास्तव में दुखी और पीड़ित है तो वे बड़े मन से उसकी सहायता करती थीं। फिर भी वे पिताजी की भांति भोली-भाली न थीं, कि कोई भी उन्हें धोखा दे सके।

पिताजी तो प्रायः धूर्त व्यक्तियों से धोखा खा जाते थे, पर मां सतर्क थीं। इस प्रकार वर्ष बीतते गये। मेरे पिताजी मां की बुद्धि पर अधिकाधिक निर्भर रहने लगे। वैसे इस बड़ी गृहस्थी के शासन की बागडोर पिताजी के हाथ में थी; पर वे कठिन प्रश्नों का निर्णय मां को ही सौंप देते थे। उनके विवेक और बुद्धि के अनुसार ही कार्य करते थे।

यदि पूज्य पिताजी की स्मृति का अपमान न समझा जाय तो मैं कहूंगा कि वृद्धावस्था में तो मेरी मां पिताजी की पति-परायण पत्नी से माता बन गई थीं।

अबकी बार विलायत आकर मुझे अपने पिताजी की कितनी ही चिट्ठियां, जो उन्होंने मां की मृत्यु के बाद लिखी थीं, मिली हैं। ये पत्र अत्यन्त करुणाजनक हैं। ८५ वर्ष की आयु में उन्होंने एकान्त में समय व्यतीत करते हुए जो कविताएं लिखी हैं और जो उदगार इनमें भर दिये हैं, वे वास्तव में बड़े कोमल, हृदय-द्रावक और ऐसे भाव-पूर्ण हृदय से

निकले हैं, जिन्हें पढ़कर मैं अपने आंसू नहीं रोक सकता। कैसे इनका प्रत्यक शब्द पिताजी ने आंसू भरकर लिखा होगा और उन आंसुओं से उनके हृदय की वेदना कुछ कम हुई होगी।

× × ×

हम सब, अर्थात् मैं और मेरे भाई-बहन, अपनी मां को वैसे ही श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखते थे, जैसे मेरे पिताजी। जब कभी हम घर छोड़कर विदेश जाते थे तो वहां से अपनी मां को ही लम्बी-लम्बी चिट्ठियां भेजा करते थे और मां उन्हें दूसरे भाई-बहनों को सुनाया करती थीं।

जब मैं हिन्दुस्तान आ गया तो प्रति सप्ताह बम्बई से एक लम्बा पत्र उनको अवश्य भेजा करता था। पिताजी को भी मैं प्रायः पत्र लिखा करता था, किन्तु मेरी लम्बी चिट्ठियां सब मां के लिए ही लिखी जाती थीं।

एक बार मुझे सन्देह हो गया कि मैंने विलायती डाक से मां को पत्र भेजा या नहीं, इसलिए एक तार भेजा, जिससे उन्हें वृद्धावस्था में चिन्ता न हो। जब मैं मां को चिट्ठी भेजा करता था तो प्रायः लिख दिया करता था, "देखो मां! यदि किसी डाक से मेरा पत्र न मिले तो चिन्ता मत करना, क्योंकि डाक सदा समय पर थोड़े ही पहुंचती है। उसमें कभी भूल भी तो हो जाती है।" यह सावधानी मेरे लिए उचित थी, क्योंकि 'खुफ़िया पुलिस' वालों की कृपा-दृष्टि मेरे लेखों व पत्रों पर पड़ ही जाती थी। इससे बचने का कोई उपाय न था। तो भी बराबर बिना चूके, प्रति सप्ताह, अपनी मां को भारत से पत्र लिखकर भेजता रहा।

× × ×

जब मैं लगभग नौ वर्ष का था तब एक ऐसी घटना घटी, जो मेरे जीवन के लिए अत्यन्त सौभाग्य-पूर्ण सिद्ध हुई और जिसका मेरे भावी जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा, अथवा यों कहिए कि जिसने मेरे जीवन-निर्माण में बड़ी सहायता की।

मेरी मां के पास काफ़ी रुपया पैतृक सम्पत्ति से जमा था, जिसके ब्याज से पर्याप्त आय होती थी और हम लोग अपने घर में बड़े आराम के साथ जीवन व्यतीत करते थे।

मेरे पिताजी पादरी थे। घर की आर्थिक दशा अच्छी होने से वे मिशन से कुछ पारिश्रमिक आदि न लेते थे। मां का रुपया एक ट्रस्टी के हाथों सौंप दिया गया था और वे मां के नाम से हस्ताक्षर करके रुपया जमा-खर्च कर सकते थे। सब काम मेरे जन्म के समय से ही इसी ढंग से चल रहा था। किसी प्रकार की चिन्ता न थी।

एक दिन प्रात काल पिताजी के नाम कहीं से एक पत्र आया। उसमें सचना थी कि जो व्यक्ति मेरी मां की सम्पत्ति का ट्रस्टी बनाया गया था, वह उस धन को सट्टेबाज़ी में लगा रहा है। पिताजी ने लंदन तार भेजकर पूछताछ की कि मेरी मां के नाम का रुपया ठीक से जमा है या नहीं ? एक के बाद दूसरा तार यही आया कि रुपया तो ट्रस्टी महोदय ने कभी का निकाल लिया और वे कहीं लापता हो गये। जाने वे कब से 'शेयर बाज़ार' में सट्टेबाज़ी कर रहे थे ! इस धूर्तता का पता पीछे चला।

उस दिन दोपहरी में मेरे पिताजी अत्यन्त चिन्तित रहे और मां उन्हें धीरज बंधाने का प्रयत्न करती रहीं। आज भी मैं माता-पिता के चिन्ता-ग्रस्त चेहरों की कल्पना कर सकता हूं।

मेरे पिताजी सारा दोष अपने ऊपर ले रहे थे। वे कहते थे कि 'ट्रस्टी' तो मेरे घनिष्ट मित्र थे, मेरे कहने पर ही चुने गये थे। उन्हें दो बातों का दुःख था--एक तो इस बात का कि ऐसे व्यक्ति को ट्रस्टी बनाया, दूसरा यह कि उनके मित्र ने यह भयकर विश्वासघात किया। उस समय मेरे पिताजी को जो मानसिक क्लेश हो रहा था उसका वर्णन करना कठिन है। एक के बाद दूसरा तार खोलते थे और उसमें सम्पत्ति-नाश का समाचार पढ़ते थे।

मैं बालक तो था ही। इस दुःख को देखकर अपनी माता के पास सट कर बैठ गया। विषाद निरन्तर बढ़ रहा था; पर मैं इतना छोटा

था कि रहस्य समझने की बुद्धि मुझ में न थी; किंतु इतनी बात मुझे पता चल गई कि मेरे पिताजी के एक मित्र ने मां का सब रुपया छीन लिया है। मैं मन-ही-मन सोचकर डरता था कि अब पिताजी क्या करेंगे।

फिर संध्याकालीन प्रार्थना का समय आया। यह प्रार्थना हम सबके लिए अत्यन्त पवित्र थी। मां अत्यन्त धैर्य से दुःख को सहन कर गईं और चुपचाप बैठी रहीं। मैं भी उनके निकट ही बैठा था। पिताजी ने बाइबिल खोली और उसमें से एक गीत पढ़ा। गीत में दाऊद ने एक विश्वासघातक मित्र के विषय में लिखा था--

"मैं विश्वासघात को सहन कर लेता, यदि यह मेरे किसी शत्रु द्वारा किया गया होता, पर यह तो तूने---ओ मेरे मित्र---तूने ही किया!"

पिताजी इस गीत को पढ़कर थोड़ी देर के लिए रुके। बाइबिल में इस पद्य के बाद विश्वासघातक मित्र को शाप देने वाले कई पद्य आये हैं। पर पिताजी ने उन पदों को जान-बूझकर छोड़ दिया। वे अपने आंसुओं को किसी प्रकार रोकने की चेष्टा कर रहे थे।

पुनः उन्होंने प्रार्थना करनी आरम्भ की--"हे परमात्मन्, तू क्षमा कर मेरे उस मित्र को! उसे बुद्धि दे, जिससे वह अपने किए पर पश्चाताप करे?"

प्रार्थना करते समय ऐसा प्रतीत होता था कि पिताजी के हृदय में अपने मित्र के प्रति दया का भाव इतना अधिक उमड़ आया है कि वे अपनी भारी हानि को भी भूल गये हैं। प्राथना कर चुकने के बाद उनके मुख-मंडल पर एक प्रकार की शान्ति तथा तेज झलक रहा था, मानों उन्हें कोई आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त हुआ हो। मां भी आनन्दित थीं और उनके इस आनन्द को सम्पत्ति की भयंकर हानि भी नहीं छीन सकती थी।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, यह घटना मेरे जीवन के लिए अत्यन्त सौभाग्यपूर्ण थी। सबसे प्रथम तो यह कि इस घटना के कारण

मेरा प्रेम अपने माता-पिता के प्रति बहुत बढ़ गया। दूसरी बात यह हुई कि विपरीत इसके कि मेरी पढ़ाई-लिखाई का सारा काम मौज से चलता रहे, मुझे स्वयं परिश्रम करके अपनी पढ़ाई का खर्च निकालना पड़ा।

जब मैं आठ या नौ वर्ष का था तब से ही बकिंघम हाईस्कूल से लेकर पच्चीस वर्ष की आयु तक, जब मैंने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से एम. ए. पास किया, मैं अपनी पढ़ाई का सारा खर्च अपने परिश्रम ही से चलाता रहा और उच्च कक्षाओं में पहुंच जाने पर तो मैं कुछ बचा कर अपने भाई-बहनों की सहायता भी करने लगा था।

कितने वर्ष बाद पता चला कि उस विश्वासघातक व्यक्ति ने पश्चात्ताप का पत्र लिख कर मेरे माता-पिता से क्षमा-याचना की और उन्होंने तुरन्त उसे क्षमा कर दिया।

इस घटना की पवित्र स्मृति आरम्भ ही से ही मेरे हृदय में रही है। माता-पिता के पारस्परिक प्रेम और उज्ज्वल दृष्टान्त ने मेरे जीवन-पथ को सदा आलोकित किया है और मैं प्रभु का धन्यवाद करता हूं कि उसने ऐसी मां की कोख से मुझे जन्म दिया और ऐसे पिता का पुत्र बनाया।

एक बार जब मैं शायद पांच वर्ष का ही था, खेलते-खेलते अकस्मात् मेरा शरीर तप्त हो आया, हाथ-पैर जलने लगे। भाई-बहनों ने मुझे उठाना चाहा, किन्तु मुझसे उठा नहीं गया।

इसी समय मां आईं। यह शब्द लिखते हुए मेरे सम्मुख वह सुन्दर, प्यारी, कोमल मुखाकृति झलक उठती है। तुरन्त वे फ़र्श पर मेरे पास आकर झुक गईं, मेरा माथा चूम लिया और मेरी दोनों टांगों की ओर देखा, जिनकी ओर मैंने आंसू भरकर संकेत किया था। तब उन्होंने मेरे दोनों घुटनों को गर्म पट्टी से बांध दिया। उस रात मैं ज्वर के प्रकोप में बड़बड़ाता रहा।

उस लम्बी बीमारी के दिनों की बात बाद में मां बहुधा सुनाया करतीं कि कैसे क्रमशः रोग बढ़ता गया, यहां तक कि मेरा शरीर

मात्र ढांचा रह गया। किन्तु मुझे तो केवल उस बीमारी की एक स्मृति—अर्थात् प्रार्थना करते हुए मां का प्रेम-भरा चेहरा—ही रह गई है। भगवान् ने मानों उनकी विनती सुन ली और मुझे पुनः उनकी गोद में भेज दिया।

उस कष्ट को बहुत-कुछ भूल चुका हूं। सम्भवतः कई महीने, सप्ताह सर्वथा अचेतन रूप से मृत्यु और जीवन के बीच झूलता रहा। बीमारी बहुत बढ़ गई और सबने मेरा मरण निश्चितरूप से निकट समझ लिया। तब एक दिन सहसा दीर्घकाल की मूर्छा के अनन्तर मेरी आंखें खुलीं। देखा, शैया के पास ही छोटी मेज पर एक ताज़ा श्वेत फूल पड़ा है। वह फूल मुझे इतना सुन्दर प्रतीत हुआ, मानों जीवन की कामनाओं और पुनर्जीवन का प्रतीक बनकर आया हो।

मां के हाथों रखे हुए उस श्वेत पुष्प ने वास्तव में मेरे अन्दर नवीन जीवन और शक्ति ला दी। उस दिन से मैं तेज़ी से स्वास्थ्य-लाभ करने लगा; किन्तु कहते हैं कि विपत्ति तथा दुःख अकेले नहीं आया करते।

एक दिन मैं बैठक के बाहर खड़ा पिताजी का संगीत सुन रहा था। मां पियानो बजा रही थीं। मैंने अपनी उंगलियां ज्योंही दरवाज़े की चौखट पर रखीं कि एकाएक वह बन्द हो गया और उंगलियां बीच में दब जाने से मैं धड़ाम-से गिर पड़ा।

पहली दुर्बलता अभी दूर नहीं हुई थी कि यह चोट आ जाने से छः मास के लिए और पड़ गया। कहने का तात्पर्य यह कि बीमारियों और कष्टों में मेरी मां मुझे अधिक-से अधिक हृदय के निकट प्रतीत होती गईं। सम्भवतः वे भी अपने अन्य स्वस्थ बच्चों की अपेक्षा मुझे अधिक चाहने लगी थीं।

आगे चलकर मेरे कई अनन्य मित्र बने, जिन्हें मैं अपने सगे भाइयों से भी अधिक समीप मानता था, किन्तु उस स्नेह और मेरी माताजी के अक्षय प्रेम की तुलना नहीं हो सकती।

माताजी का नाम आते ही जीवन की कितनी ही घटनाएं सहसा उभर आती हैं।

मेरी मां उन माताओं में-से थीं, जो जहां तक हो सके, बिना किसी बाहरी सहायता के, बच्चों का पालन-पोषण करती हैं। वे बहुत प्रातःकाल उठतीं और हम लोगों के उठने के पूर्व ही दैनिक कर्तव्यों में लग जातीं।

हम एक दिन भी बिना भूले, प्रातः-सायं नेत्र मूदे, उनके साथ प्रार्थना में सम्मिलित होते। वे पास ही कुर्सी पर बैठी होतीं और प्रत्येक से प्रार्थना को दोहरा कर सुनतीं।

मां के जन्म दिन के अवसर पर, जो पच्चीस मई को पड़ता है। हम सवेरे ही उठने और उनके कमरे के बाहर खड़े होकर एक साथ गाने लगते। वे प्रायः इसकी प्रतीक्षा में होतीं, क्योंकि उन्हें इसका पता होता था। पुनः वे बाहर आतीं और मुस्कराते हुए हमारा स्वागत करतीं। हम उन्हें उपहार देते, सारे दिन प्रसन्नता की लहरें उनके मुख पर खेलती रहतीं। कैसी सुन्दर ऋतु में उनका जन्मोत्सव आया करता, जब बसन्त के सारे फूल यौवन में होते! हम फूलों से उनका कमरा भर देते। एक बार का मुझे स्मरण है, जब सूर्य के निर्मल प्रकाश में उनका मुखमण्डल एक अलौकिक प्रसन्नता से रक्त-वर्ण एवं दीप्तिमान् हो रहा था, जिससे हमारा घर-भर आलोकित हो उठा! उनकी आंखों में आनन्द के आंसू छलक आते थे।

वे सदैव हमारे लिये कुछ-न-कुछ तैयार किया करतीं। हम लोग भी इसी प्रतीक्षा में रहते कि मां चुपके-चुपके क्या बना रही होंगी।

कभी-कभी एक-दो बच्चों वाले परिवार पर मैं आश्चर्य करता हूं। हमारा इतना बड़ा कुटुम्ब था और हमने एक साथ रहने-सहने का सुन्दर ढंग सीख लिया था। हमारी मां ही वास्तव में हमारी सच्ची शिक्षक थीं। हमारे लिए परिश्रम करते-करते वे थकती न थीं। उनकी इस निस्स्वार्थता को देखकर हमें साहस न होता था कि हम किसी प्रकार के भोग-विलास में पड़ें। ऐसा होते हमें लजा आती थी। उन्हीं से हमने प्रेम और उदारता की प्रेरणा ली।

जोहान्सबर्ग से डरबन को आते हुए मैं ज्वर-पीड़ित था। पुराने मलेरिया का प्रकोप होने से बुरी तरह थक गया था।

डरबन उतरकर कुछ भारतीय महिलाओं से जो तभी जेल से लौटी थीं, मिला। इसी समय प्रथम बार मैंने श्रीमती कस्तूरबा गांधी को देखा; किन्तु साथ ही निम्न आशय का तार भी मिला—"मेरी मां के जीने की आशा नहीं है!"

अगले दिन मुझे स्त्रियों की सभा में भाषण देना था। बड़ी कठिन समस्या उपस्थित हो गई। मन में यही दुराशा उठती थी कि मां की मृत्यु का ही समाचार आएगा।

वही हुआ। सन्ध्या समय मृत्यु का तार आ गया। वह तार मैंने गांधीजी के पास भेज दिया। तत्क्षण श्रीमती गांधी कुछ अन्य भारतीय स्त्रियों के साथ आ पहुंचीं। उस अपार दुःख के समय आकर उनका सान्त्वना देना मेरे लिये अत्यन्त शान्तिदायक हुआ।

ऐसा लगा, मानों वे सब मेरी माताएं हों। कौन जानता था कि भविष्य में यही भारतीय महिलाएं मेरी मां का साक्षात्-स्वरूप होंगी। आजन्म जहां-जहां भी मुझे वे इस रूप में मिलीं, मैंने भारत के प्रति अपनी माताजी के उत्कट प्रेम को सत्य सिद्ध होते देखा।

: ३ :

अम्माजी

ा० कैलासनाथ काटजू

मेरी माता अपने माता-पिताकी इकलौती सन्तान थीं। उनके पिता पण्डित नन्दलाल काश्मीरी पण्डित थे। वे पंजाब में पहले ज़िला हिसार और बाद में बहुत वर्षों तक होशियारपुर में सरकारी अधिकारी रहे। मेरी माताजी का जन्म संवत् १९१५ में सिरसा (ज़िला हिसार) में हुआ। मां-बाप ने उनका नाम रामप्यारी रखा; पर विवाहके बाद ससुराल में वे सुहागरानी कहलाईं। वास्तवमें दोनों नाम सुन्दर और शुभ घड़ी में रखे गए। वे निसन्देह रामकी प्यारी थीं और अन्त समय—अपने विवाह के ७१ वर्ष पश्चात्—अपना सुहाग अपने साथ ही ले गईं।

नन्दलालजी अपनी बेटी को बहुत चाहते थे। घर में रामप्यारी की मां और दादी दोनों मौजूद थीं। प्यार-दुलार तो बच्ची का बहुत था; लेकिन वह ज़माना कुछ और ही था। महिलाओं में शिक्षा इत्यादि की कुछ चर्चा ही नहीं थी। मेरी माता कहा करती थीं कि उनकी दादी के मन में तो यह बात जम गई थी कि रूस के रहनेवाले सब घुड़मुंहे होते हैं। धुएं की गाड़ी, यानी रेल, उन दिनों नई-नई निकली थी, मगर हमारी दादीजी को मरते दम तक यह विश्वास नहीं हुआ कि इंजन भाप से चल सकता है! रेलपर तो वे कभी बैठी ही नहीं थीं। घर में औरतों का तो यह हाल था; परन्तु पिताजी को विद्या से बड़ा प्रेम था। अपनी पत्नी के मना करने पर भी उन्होंने बहुत उमंग से बेटी को खुद पढ़ाया-लिखाया।

माताजी ने अपने बाप से हिन्दी और फारसी सीखी। ईश्वर ने दिमाग बहुत अच्छा दिया था। उन्होंने संस्कृत खूब पढ़ी और गणित भी। भूगोल, नक्षत्र-विज्ञान आदि भी वे थोड़ा-बहुत जानती थीं और ज्योतिष में तो इतना कमाल हासिल था कि बड़े-बड़े पण्डितों और ज्योतिषियों तक से वे बेधड़क वार्त्तालाप करती थीं। फारसी के गुलिस्तां-बोस्तां और दीवान-हाफ़िज़ मरते दम तक उन्हें खूब याद थे। उनकी विचार-शक्ति बहुत ऊंची थी। जो-कुछ एक दफ़ा पढ़ती या सुनती थीं, वह सदा के लिए याद हो जाता था। उन्होंने सब धर्मशास्त्र अपने-आप पढ़े थे। गीता तो उन्हें कण्ठस्थ-सी थी।

नौ वर्ष की अवस्था में, संवत् १९२५ में, उनका विवाह पण्डित त्रिभुवननाथ काटजू के साथ हुआ। हमारा घर जावरा (मालवा) में है—शहरों से दूर, एक कोने में। संवत् १९२५ में जावरा में रेल भी नहीं थी। छोटी जगह, पुराने विचार, पुराने चलन और रस्मो-रिवाज। मेरी माताजी यहां ५० वर्ष की आयु तक पर्दे में बन्द रहीं। उनका विवाह छोटी आयु में हुआ था और थोड़े अरसे के बाद ही उनपर गृहस्थी का बोझ आ पड़ा था। देवर-जेठ सब अलग रहते थे। घर का कुल काम-धन्धा, रोटी-पानी, बच्चों का पालना-पोसना, कपड़ों की सिलाई आदि सब-कुछ वे अपने आप करती थीं। पढ़ने-लिखने से उन्हें काफ़ी रुचि थी और दूसरों को भी पढ़ाती थीं। दोपहर को १-२ बजे जब घर के धन्धे से कुछ सुभीता मिलता तो मोहल्ले की लड़कियां उनके पास पढ़ने आ जातीं और घर में एक छोटी-सी पाठशाला लग जाती। मेरी माताजी लड़कियों को लिखना-पढ़ना सिखाती थीं।

काश्मीरी पण्डितों में पर्दा बाहरवालों से होता है, घर में ससुर या जेठ से नहीं होता। कुटुम्ब के जितने लोग थे—उनकी गिनती काफ़ी थी—वे सब माताजी को घेरे रहते थे। घर के सब मर्द और लड़के उनसे बीसियों विषयों पर वार्त्तालाप किया करते थे। कभी समाचारपत्र सुनना, कभी दुनिया की चर्चा, राजनैतिक बातें, रियासत के मामले आदि—ये सब वे सुनती व समझाती थीं।

मेरी माताजी घर में साधारण स्त्रियों की तरह सभी काम-धन्धा करती थीं; परन्तु उनके विचार उस समय को और जिस वातावरण में उनका जीवन बीत रहा था, उसे देखते हुए बिल्कुल निराले और बहुत ऊंचे थ। उनका दृढ़ विश्वास था कि मर्दों ने स्त्रियों को दबा रखा है। वे कहा करती थीं कि मर्द औरतों को पशुओं की तरह अपनी जायदाद समझते हैं। उन्होंने हमको चल्हे के सुपुर्द कर दिया है। औरतों को मर्द रोटी-कपड़ा देकर यह समझते हैं कि वे उनके घर की दासी हैं। मैं जब बड़ा हुआ और इन बातों को कुछ समझने लगा तो हंसी में उनसे कहता था कि अम्माजी तुम रसोईघर में चूल्हे के पास बैठकर अन्नपूर्णादेवी मालूम होती हो तो बहुत बिगड़ती थीं और कहती थीं कि तुम लोगों ने यही कह-कहकर और मीठी-मीठी बातों से लुभाकर हमको अपाहिज बना रखा है। उनकी जबरदस्त इच्छा थी कि हरएक स्त्री इतना पढ-लिख ले और हुनर-दस्तकारी सीख ले कि वह अपना पेट खुद पाल सके और मर्दों की मुंह देखा न रहे। वे कहती थीं कि मैं शादी-विवाह के खिलाफ़ नहीं हूं। घर-गृहस्थी करना तो स्त्रियों का धर्म है, मगर मैं नहीं चाहती कि स्त्रियां दबैल बनकर रहें। स्त्री और पुरुषों में पूरी बराबरी की वे दावेदार थीं। उनका अपना विचार यह था कि बराबरी की ही बुनियाद पर पति और पत्नी अपना घर चलावें। इस दृष्टिसे वे स्त्री-शिक्षा की बड़ी जबरदस्त हामी थीं और जब कभी सुनतीं या समाचारपत्रों में पढतीं कि देश की किसी स्त्री ने बी० ए०, एम० ए० पास किया या पढ़ाई अथवा हुनर में नाम हासिल किया तो बाग़बाग़ हो जाती थीं। यह चर्चा मैं आजकी नहीं, बल्कि ५०-६० वर्ष पहले की कर रहा हूं, जबकि गांव व कस्बे में तो क्या बड़े-बड़े नगरां में भी स्त्री-शिक्षा का प्रचार नहीं था

सन्तानोत्पत्ति के बारे में भी उनके विचार सदा से ही ऐसे थे कि जिनकी चर्चा अब कुछ फैल रही है। ब्रह्मचर्य और उसके द्वारा सन्तान-निग्रह की वे बड़ी पक्षपातिनी थीं। वे कहती थीं कि बच्चों के बीच में कम-से-कम चार-चार वर्षों का अन्तर होना चाहिए, ताकि एक बच्चा

मांका दूध पीकर बड़ा हो जाए, मां उसकी पूरी-पूरी देख-भाल, पालन-पोषण कर ले तब दूसरा बच्चा उत्पन्न हो। यदि वे किसी स्त्री के जल्दी-जल्दी सन्तान होते देखतीं या सुनतीं तो उनको बड़ी घृणा होती। वे अपने कुटुम्ब की और सम्पर्क में आनेवाली सभी स्त्रियों में इसके खिलाफ़ प्रचार करती थीं। विवाह के सम्बन्ध में भी उनके विचार बड़े स्वतन्त्र थे। छोटी आयु की शादी उन्हें बड़ी नापसन्द थी और बिरादरी में ही शादी होना वे आवश्यक नहीं समझती थीं। सब ब्राह्मणों को एक ही मानती थीं। प्रत्येक वर्ग में जो सहस्रों लड़ें पड़ गई हैं और एक-दूसरे में व्यावहारिक मतभेद हो गया है, इस क़ैद को वे बुरा समझती थीं।

उनका जीवन एक सच्चा धार्मिक जीवन था। शिवजी की वे बड़ी भक्त थीं और नियम के साथ रोज़ उपासना करती थीं। इसी कारण उन्होंने मेरा और मेरे भाई का कैलासनाथ और अमरनाथ नाम रखा था। धार्मिक पुस्तकें उन्होंने बहुत पढ़ी थीं। खाने-पीने में छूत-छात का विचार तो करना ही पड़ता था; लेकिन उसमें भी वे बहुत कट्टर नहीं थीं। अक्सर कहा करती थीं कि शास्त्रों में जितनी खाने-पीने की मनाइयां लिखी हुई हैं, उनका धर्म से और ईश्वर की भक्ति से कोई वास्ता नहीं है। यह तो सब अपने शरीर के रक्षार्थ हैं। छूतछात से बहुत-सी बीमारियां हो जाती हैं, इसीलिए उनके रोक-थाम के लिए हमारे ऋषियों ने यह सब क़ायदे बनाए। लोग उनको मानें, इस वास्ते उन्हें धार्मिक रूप दे दिया गया, वरना यह तो सब डाक्टरी शिक्षा है।

संवत् १९६२ में मैंने अपनी वकालत का काम कानपुर में आरम्भ किया। ९ वर्ष वहां रहकर संवत् १९७१ से प्रयाग हाईकोर्ट में वकालत करने लगा। हम लोगों का इससे पहले संयुक्त-प्रान्त से कोई वास्ता नहीं था; परन्तु अब तो प्रयाग में अपना घर-द्वार बना लिया है। मेरी वकालत तो गोया मेरी माताजी के लिए आज़ादी का कारण हो गई। वे संवत् १९६२ से मेरे साथ कानपुर और बाद में प्रयाग में आने-जाने लगीं। कहां तो जावरा की मुसलमानी रियासत में पर्दे का ज़ोर—कहीं

बाहर निकलना नहीं होता था. मन्दिर में आने-जाने का भी दस्तूर न था—और कहां कानपुर और प्रयाग में गंगाजी का तट और वहां आने-जाने की कोई मुसीबत नहीं ! घर का काम-धंधा कानपुर में तो सब वैसा ही था, जैसा जावरा में। मेरी नई वकालत थी, नई जगह, सब तरह की कठिनाइयां थीं। परन्तु वे सदा मगन ही रहती थीं। बेटे की घर-गृहस्थी जमाना, इसमें ही उन्हें क्या कम आनन्द था और उसपर पर्दे की कोई ज्यादा रोक-टोक नहीं ! वे रोज गंगाजी जातीं, स्नान करतीं, कैलास-मन्दिर में दर्शन करतीं और तब घर आती थीं। बिरादरी के और गैर-बिरादरी के जिन बहुत-से घरों से हमारा मेल-जोल हुआ, उन सबसे मिलना-जुलना माताजी को बहुत अच्छा लगता था। यहां भी दुनिया की खूब चर्चा रहती थी और वे अपनी जमात को बराबर बढ़ाती जाती थीं। प्रयाग में ७-८ वर्ष तक तो मैं किराए के मकान में ही रहा, फिर संवत् १९७९ में अपना बंगला खरीद लिया। अब तो माताजी को पूर्ण अवसर मिला कि अपनी इच्छानुसार काम करें। प्रयाग में प्रायः साल-साल, दो-दो साल आकर वे रहती थीं। त्रिवेणी, गंगा, यमुना आदि के स्नान बराबर करती थीं। शिवकुटी और पंचमुखी महादेव के शिवालों में जाकर उनके दर्शन करने का उन्हें बहुत प्रेम था। वे सदा वहां जाती थीं। झूसी और दारागंज के साधु सन्तों की सेवा करना भी उनका एक खास काम था। घर में भी सदा पूजा-पाठ, कथा-हवन इत्यादि होते ही रहते थे। पण्डितो-पुजारियों से वार्त्तालाप होता था। परन्तु किसी पण्डितजी महाराज की क्या मजाल कि जो पूजा करने की विधि में कोई कमी करें या किसी मन्त्र का उच्चारण अशुद्ध करें। उनको मन्त्र सब याद थे और सबके अर्थ भी वे समझती थीं। अतः वे देखती रहती थीं कि पूरा कार्य शुद्ध रूप से यथाविधि समाप्त हो। वे दानी भी थीं और गुप्त दान देने की उन्हें बड़ी रुचि थी। किसी को मालूम भी नहीं होता था कि माताजी किस-किस की क्या सहायता कर रही हैं। चलने-फिरने और हवा खाने को वे बड़ी उत्सुक रहती थीं। बाहर जाकर रहना तो उनको बेहद पसन्द था।

इसलिए मैंने गंगा-किनारे एक बगीचा ले लिया। वहीं मुझे मालूम हुआ कि उनका बागवानी में कितना दखल था। मालियों की वे अपने सामने, खड़े होकर, हिदायतें देतीं और फूलों के पौधे तथा फलों के पेड़ लगवातीं। उनके हाथ के बहुत-से आम-अमरूद इत्यादि के पेड़, चमेली-गुलाब की बेलें आदि उनकी मधुर स्मृति-स्वरूप मेरे बंगले और बाग में आज भी मौजूद हैं।

गो-सेवा वे सदा तन-मन से करती थीं और हमारे घर में गाय के बच्चा होना तो ऐसा ही था, जैसे किसी बहू-बेटी का जापा हो। हफ्तों पहले-से गाय घर में आ जाती थी। उसकी देखभाल माताजी स्वयं करती थीं और बच्चा पैदा होने के बाद गाय की सेवा, उसकी खिलाई-पिलाई महीनों बड़े ध्यान से की जाती थी। कहीं बछिया पैदा हुई तो माताजी निहाल हो गईं। वह बछिया फिर घर में ही गाय बनती थी। ऐसी कई बेटी और नवासी गायें अभी तक मौजूद हैं। जब-तक बछवा बड़ा नहीं हो जाता था तबतक माताजी का आदेश था कि एक थन का दूध बचाकर छोड़ा जाय। जानवरों की चिकित्सा में भी उनका काफी दखल था। कुत्ते-बिल्ली से उन्हें बड़ी नफरत थी। वे कहा करती थीं कि कुत्ता गन्दा होता है और बिल्ली विश्वासघातिनी; लेकिन रंग-बिरंगी चिड़ियां, तोते, मैना आदि उन्हें बहुत पसन्द आते थे और वे उनको बड़े चाव से पाला करती थीं।

डाक्टरी की तरफ भी माताजी का काफी रुझान था। बगैर कोई परीक्षा पास किए ही उन्हें डाक्टरी का अच्छा खासा अभ्यास और जानकारी हो गई थी। मनुष्य का ढांचा और उसकी बनावट तथा दिमाग, कान, आंख आदि सब अंगों की क्रियाएं वे अच्छी तरह जानती थीं। हमारे कुटुम्ब में कई डाक्टर हैं। वे उनके साथ घंटों बात-चीत करतीं। वे भी माताजी को हर तरह योग्य जानकर प्रेम और आदर के साथ उनके प्रश्नों का उत्तर दिया करते थे और गम्भीर-से-गम्भीर बातें उनको समझाते थे। स्त्री-जाति की बीमारियां और प्रसूति इत्यादि के मामले में तो वे अच्छी खासी लेडी डाक्टर हो गई थीं।

घर में बहू-बेटियों का ही नहीं; बल्कि मोहल्ले के रहनेवाले और प्रयाग में हाते के नौकर-चाकरों में औरतों-बच्चों का इलाज माताजी का ही हुआ करता था। हिकमत और आयुर्वेदिक दवाओं की भी उन्हें जानकारी थी। मरीज की देख-भाल, सेवा और नर्सिंग वे बड़ी रुचि तथा लगन से करती थीं।

यह सब गुण तो उनमें थे ही; परन्तु जो बात सब से अधिक उनकी तरफ हरएक को खींचती थी, वह था उनका स्वभाव। बड़े, बूढ़े, जवान और बच्चे सब उनसे खुश रहते थे। पुराने खयाल की बड़ी-बूढ़ी औरतों में माताजी की बड़ी कदर थी। शादी-ब्याह के अवसर पर बिरादरी के सब रस्मो-रिवाज, लेना-देना, विधिपूर्वक पूजा-पाठ इत्यादि सभी मामलों में माताजी की राय मांगी जाती थी और उसी पर अमल होता था। घर में स्कूल और कालेज में पढ़नेवाले बालक और बालिकाएं अम्माजी के पास रुचि से बैठा करते थे। भारत का इतिहास उनको खूब याद था। गाना-बजाना उन्होंने कभी सीखा नहीं था और न जानती ही थीं, मगर उसे सुनने का उन्हें बड़ा शौक था। मेरी लड़की लीला का गला बहुत अच्छा था। वह मीरा के भजन बड़े प्रेम से गाती थी और माताजी घंटों बैठकर उनको सुनतीं और उन्हीं में लीन हो जाया करती थीं। मगर उनकी सबसे अधिक पूछ-ताछ तो थी कुटम्ब के पुरुषों में। हमारे घर में ईश्वर की दया से सब ही हैं--जज, वकील, डाक्टर, इंजीनियर, कारबारी और हर तरह के सरकारी ओहदेदार और बराबर सबका आना-जाना लगा रहता था। जब मैं नौकर से पूछता कि फलां साहब कहां है तो उत्तर मिलता कि बहूजी के पास बैठे हैं। जो आता सीधा सुहागरानी चाची के पास जाता और उनसे अपना दुःख-दर्द बयान करता। वे बड़े प्रेम से सब कथा सुनतीं और नेक सलाह देतीं। हरएक के साथ उनके कार्य के बारे में बातचीत करने का माताजी का खास ढंग था। इंजीनियर के साथ इंजीनियरी मामलों पर बहस करतीं और डाक्टरों के साथ डाक्टरी के बाबत। मैं तो अक्सर रात को भोजन करके उनकी गोद में अपना सिर रखकर

लेट जाता और उनसे अपने मुकदमों का हाल बयान करता था। वे वाक्यात के मामलों खूब समझती थीं और अपन तजरबे तथा बुद्धिमत्ता से ऐसे-ऐसे नुकते निकालतीं कि मुझे उनसे खासी मदद मिलती थी।

दुःख-दर्द में माताजी के समान तसल्ली देने और सन्तोष करनेवाला शायद ही कोई होगा। जहां वे ऐमे मौकों पर जाती थीं तो गमजदों को उन्हें देखकर तथा उनके शांतिपूर्ण उपदेशों से बड़ा सन्तोष मिलता था। मुझे याद है, एक बार श्रीमती उमा नेहरू का लड़का चिरंजीव आनन्दकुमार बिना मां-बाप की अनुमति के जहाज से अफ्रीका की सैर करने को चला गया। उमा मामी बहुत व्याकुल हुईं। उन दिनों वे बार-बार मेरी माताजी के पास आया करती थीं। उन्होंने एक दिन मुझसे कहा--"सुहागरानी चाची के पास आकर मुझे जो सन्तोष मिलता है, वह बयान के बाहर है।" स्वर्गीय सरूपरानीजी नेहरू के साथ मेरी माताजी का घनिष्ट सम्बन्ध हो गया था। वे मेरी माताजी को अपनी बड़ी बहन मानन लगी थीं और उसी नाते मुझको भी अपना बेटा कहती थीं। वे कहा करती थीं कि सुहागरानीजी की बातचीत, उनके धार्मिक विचार और उपदेश मुझको बहुत भाते हैं और मेरे जो कष्ट हैं, उनको हल्का करते हैं।"

राजनैतिक मामलों में उनकी खूब दिलचस्पी थी और बराबर उनकी खबरगीरी रखती थीं। हिन्दू-मुस्लिम सवाल पर उनकी मजबूत राय थी और वह राय कुछ-कुछ श्री सावरकर से मिलती है। पिताजी के साथ उन्होंने पूरे भारतवर्ष की यात्रा की थी। मेरे विचार से मुसलमानों के जमाने में भारतवर्ष के मन्दिरों और शिवालों की जो बरबादी हुई, उसका बहुत गहरा जखम माताजी के हृदय पर लगा था, जो उस समय की बातें करते हुए सदा हरा हो जाता था।

हिन्दुस्तान की गरीब जनता की भलाई हर वक्त उनकी नजरों के सामने रहती थी। इस विषय में गांधीजी को बराबर सराहा करती थीं। इसी दृष्टि से वे कांग्रेस-मंत्रिमंडल की शराब के बहिष्कार के

बारे में जो नीति थी, उसका वे जोरों से समर्थन करती थीं। चाय पीने के वे बहुत ही खिलाफ थीं। एक बार प्रयाग माघ-मेले के अवसर पर वे त्रिवेणी-स्नान करने गईं। वहां से लौटने पर मुझसे बड़ी नाराज़ हुईं और कहने लगीं--"तुम लोग प्रबन्ध नहीं करते हो। गरीबों का नाश हो जायगा।" मैंने पूछा--"अम्माजी, आखिर मामला क्या है?" मालूम हुआ कि चाय का प्रचार करने के लिए चाय के बगीचों के मालिकों की तरफ से गंगा के तट पर कैम्प लगा है। वहां चाय मुफ़्त बांटी जा रही है। उनका तो काम ही चाय का प्रचार करना था। इसलिए लोगों को मुफ़्त चाय पिलाते थे, ताकि उनको आदत पड़ जाय। माताजी चाय के सख़्त खिलाफ थीं। उनका विचार था कि देश में दूध-दही खाने की ज्यादा आवश्यकता है। चाय से स्वास्थ्य खराब हो जाता है और भूख बन्द हो जाती है। मुझसे कहने लगीं--"तुम गवर्मेण्ट वाले थोड़ी आमदनी के लिए भारत का सत्यानाश करते हो।"

माताजी की बोलचाल मीठी और गम्भीर होती थी। व्यर्थ वार्तालाप और कोरी बकवास से उनको घृणा थी। वे एक शान्त मूर्ति थीं। मैंने कभी उन्हें क्रोधित होते नहीं देखा। न उन्हें कभी विशेष हर्ष होता था और न वे किसीसे द्वेष ही करती थीं। वे सुख-दुःख में समतावान थीं। जाहिल औरतों की तरह उनमें रोने-धोने की आदत नहीं थी। घर में बहुत शादियां हुईं, लड़कियों के विदा होते समय घर-भर रोता और आंसू गिराता; परन्तु माताजी वैसी-की-वैसी ही शान्त बनी रहतीं। मैंने उन्हें कभी भी एक आंसू गिराते नहीं देखा और अगर कोई बेटी-पोती माताजी से जुदा होते हुए रोती तो माताजी मना करतीं—"रो मत बेटी, मुझे शंका होती है। यह तो बड़ी खुशी का दिन है कि तू अपने घर जा रही है।" माताजी ने दुःख भी काफ़ी उठाए। कई बड़ी, प्यारी पाली-पोसी, ब्याहता बेटी-पोतियां उनके सामने गुज़र गईं; लेकिन उन सदमों को भी उन्होंने बहुत सब्र और शक्ति के साथ झेला और कभी हिम्मत नहीं हारी।

हरएक के साथ उनका बर्त्ताव मिलनसारी का और अच्छा होता था। उनके मैके में एक भाई गोद आया था। ननद-भौजाई में मैंने ऐसा मेल कहीं नहीं देखा, जैसा कि उनमें था। ऐसा जान पड़ता था, जैसे दो सगी बहनें हों। इसी कारण मेरी मामी मुझे बेटा समझती थीं और मैं उनको माता के समान मानता था। उन्हीं के घर जाकर मैंने लाहौर में ५ वर्ष रहकर बी० ए० पास किया। मेरे मामूजी की संतान और उनके जमाई दीवानबहादुर ब्रजमोहन नाथ जुत्शी को मेरी माताजी का जैसा प्रेम प्राप्त था, उसका मैं बयान नहीं कर सकता। इसे वही जानते हैं। अपने घर में माताजी अपनी बेटियों से ज्यादा बहुओं को प्यार-दुलार करती थीं। कहती थीं—"बेटियां तो दूसरों के घर जायंगी। मेरे घर की आबादी तो बहुओं से ही है।" नतीजा यह था कि घर में कभी कोई खटपट नहीं होती थी। हमेशा शांति और हरएक खुश और मगन रहता था। बहुओं की नज़र में माताजी सास नहीं थीं; बल्कि उनकी माता के समान ही थीं। सारे कुटुम्ब में ईश्वर की कृपा से बहुत-सी बहू-बेटियां हैं। सब माताजी को ऐसा आदर-प्यार करती थीं कि मैं कह नहीं सकता। हरएक उनके पास जाकर बैठती और कुछ न-कुछ उपयोगी बात सीखकर ही जाती। नए ज़माने की बी० ए०, एम० ए० पास लड़कियां और पुराने समय की खूसट स्त्रियां दोनों ही माताजी को बुद्धिमान और तजरबेकार समझती थीं और उनसे लाभ उठाती थीं। आजकल की कालेज की पढ़ी-लिखी महिलाएं भी उनको देखकर और उनकी बातें सुनकर मुग्ध हो जाती थीं। माताजी का विज्ञान, इतिहास, भूगोल, नक्षत्र-विज्ञान, डाक्टरी इत्यादि का ज्ञान और चर्चा उनको आश्चर्य में डाल देते थे कि यह बड़ी-बूढ़ी औरत अंगरेज़ी से अनभिज्ञ होकर भी ये सब बातें कहां से जान गई और उसपर उनके-जैसे स्वतंत्र विचारों का तो कहना ही क्या? प्रयाग में हमारे यहां एक पारसी लेडी-डाक्टर आया करती थीं। उनका नाम था मिस कमसरिएट—आलादिमाग, सुशिक्षित, विलायत-अमरीका गई हुई, बहुत

योग्य। वे माताजी से ऐसी प्रसन्न थीं कि उन्हीं को अपनी माता बना लिया।

अभ्यास करते-करते माताजी का ज्योतिष में भी काफी दखल हो गया था। जब वे प्रयाग में होतीं तो हाते के नौकर-चाकरों में जहां बच्चा पैदा हुआ, सबकी जन्मकुंडली बनाती थीं। मेरे पास जब कोई ज्योतिषी आते तो मैं उनको सीधी माताजी से भेंट करा देता और कहता—"महाराज, मुझे तो कुछ आता-जाता नहीं। कृपया माताजी से वार्त्तालाप कीजिए।" नतीजा यह होता था कि मुझे तो छुटकारा मिल जाता और उनकी भी कलई खुल जाती। मेरी जानकारी में माताजी की बताई हुई बातें बहुत सच निकलती थीं। कोई चालीस वर्ष हुए—जब मैं कालेज में पढ़ता था—मुझे उन्होंने मेरे कुल जीवन का नक्शा खींच दिया था। इन चालीस वर्षों के बारे में उनकी बताई हुई बातें सब सही निकली हैं। वे तो उम्र का पैमाना भी कब छलकेगा, यहां तक बतला गई हैं।

खाने-पीने में वे बड़ी पाबन्द थीं। मेरे हाथ का छुआ हुआ कच्चा खाना भी नहीं खाती थीं। मगर अछूत-प्रथा वे बिल्कुल नहीं मानती थीं। मैंने उनको चमार व भंगी औरतों और बच्चों को अपने पास प्रेम से बिठाते, उनकी दवा करते और बच्चों को गोद में लेते देखा है। उनका रहन-सहन बहुत ही सादा हो गया था। वे पूर्ण संयम के साथ रहती थीं। मांस-मछली खाने का काश्मीरी पंडितों में रिवाज-सा है और हमारे घर की तो इष्टदेवी ही शारदा भगवती हैं; परन्तु बहुत सालों से माताजी ने आमिष खाना छोड़ दिया था। भोजन भी वे अपने हाथ से या कुकर में बनाकर एक वक्त दोपहर को ही करती थीं और शाम को केवल एक प्याला दूध पीती थीं। उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था; पर आंख में एक किस्म का मोतियाबिन्द हो गया था, जिसके कारण आंखों की ज्योति मृत्यु से तीन वर्ष पहले से ही जाती रही थी। तब भी माताजी का स्वभाव वही था और अपनी जानकारी बराबर बढ़ाने की उनकी वैसी ही इच्छा थी।

हम कुल पांच बहन-भाई थे और सबको ही वे प्यार करती थीं, मगर सब कहते थे कि मेरे प्रति उनका स्नेह अधिक था। वे कहा करती थीं—"मेरे २४ वर्ष तक कोई सन्तान नहीं हुई; पर मुझे इसका कुछ अधिक दुःख नहीं था। मुझे सन्तान की ज्यादा अभिलाषा नहीं थी। मैं उसे झंझट ही समझती थी। उस उमर में जब पहली सन्तान लड़की हुई तो मुझे जरूर कामना हुई कि ईश्वर ने जब औलाद दी तो पुत्र भी दे और मैंने शिवजी से ऐसी ही प्रार्थना की। चार वर्ष बाद जब पुत्र उत्पन्न हुआ तो मेरी सास कहने लगीं—'काटजू-खान्दान में दो पुश्तों से कोई लड़का पैदा नहीं हुआ, गोद मांगकर ही यह खान्दान चला है। मेरे भाग्य में कहां कि मैं इस लड़के का सुख पाऊं!' उनका कहना सच ही निकला और आठ महीने ही में वे परलोक सिधार गईं। मैं भी बीमार पड़ गई। जापे के बाद से ही दो वर्ष तक ज्वर आया, मानों क्षय हो गया। मरते-मरते बची। अक्सर रात में व्याकुल हो जाती थी, आंसू निकल आते थे और सोचती थी कि यह बच्चा इतनी कामनाओं और प्रार्थनाओं से मांगा हुआ न मालूम किसके हाथों पड़ेगा? कौन स्त्री इसकी विमाता बनेगी, कौन इसको पालेगी? और शिव भगवान से बार-बार मांगती कि तुमने मुझे बच्चा दान दिया तो मुझको आयु भी दो, ताकि उसकी रक्षा कर सकूं। भगवान ने विनती सुनी और ऐसी सुनी कि तुमको ही नहीं पाला-पोसा, बल्कि तेरी सन्तान और उनकी औलाद का भी सुख भोग रही हूं। तू भी मेरे से चिपटा ही रहता था। चार वर्ष तक तूने भी मेरा दूध पिया है।" ऐसी माता का ऋण भला कौन उतार सकता है और कैसे उतारे?

अन्त में आंखें चली जाने से उनका चलना-फिरना कम हो गया था तो भी नौकर का हाथ पकड़कर वे प्रातःकाल बाग में टहला करती थीं, ताकि स्वास्थ्य ठीक रहे। जब उनकी ८० वर्ष की अवस्था हो गई तो एक दिन गौतम बुद्ध के समान कहने लगीं कि यह शरीर अब काम का नहीं रहा, अब तो इसको त्यागना ही उचित है। उनका

स्वास्थ्य ढीला हो गया था और उन्होंने इस लोक को त्यागने की सब तैयारी भी कर ली थी। अपने सामने अपने हाथ से जो गहना उनका था, वह बहू-बेटियों और उनकी सन्तान को बांट दिया और जितना दान करना चाहती थीं, सब दान कर दिया। एक ट्रंक में अपने लिए एक जोड़ा साड़ी रखवा दी कि मरने के बाद पहनाई जाय।

वे गीता का पाठ बराबर खुद करती और सुनती थीं। आठवें अध्याय से उनकी विशेष रुचि थी। और वैसा ही हुआ भी। संवत् १९९६ माह आषाढ़ शुक्लपक्ष में प्रदोष के दिन १॥ बजे दोपहर को, जबकि दिनकी ज्वाला भरपूर थीं, माताजी ने प्रयागराज महात्याग-भूमि में, जैसी कि उनकी इच्छा थी, अपना शरीर त्यागा। बातें करते-करते, करवट लेकर वे परलोक सिधार गईं। हम सब उनके पास मौजूद थे; परन्तु मेरी स्त्री बीमारी के कारण नैनीताल में थी। उसको बुलाया था, मगर आने में जरा देरी हुई। बस, उसीको बार-बार याद करती थीं और कई दफे पूछा भी—"लक्ष्मीरानी नहीं आई? कब आयगी?" इसके सिवा बहुत इत्मीनान के साथ जैसा कि भगवान् ने बताया है—

वासंसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहणाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयांति नवानि देही॥

मनुष्य अपने पुराने वस्त्रों को छोड़कर जैसे नए बदलता है, वैसे ही माताजी ने अपना शरीर त्यागा।

उसी दिन मुझे यह ज्ञान हुआ कि हिन्दू-स्त्रियों को क्यों अभिलाषा होती है कि वे अपना सुहाग साथ लेकर जायं? माताजी बहुत वर्षों से रंगीन किनारे की सफेद साड़ी पहनती थीं। यदि कोई उनको रंगीन रेशमी वस्त्र लाकर पहनने को कहता तो जवाब मिलता कि बुढ़ापे में क्या यह मुझको शोभा देगा? परन्तु जो साड़ी उन्होंने पहले से ही अन्तिम यात्रा के लिए निकालकर ट्रंक में रखी थी, वह एक सुन्दर लाल

रेशमी साड़ी थी। नहला-धुलाकर जब उनको वे वस्त्र पहनाए गए और माथे पर सिन्दूर का टीका लगाया गया तो मैं सच कहता हूं, ऐसी सुन्दर मालूम होती थीं, जैसे कोई दुलहन हों। कुछ ऐसी ईश्वर की करनी हुई कि उनके चेहरे से बुढ़ापे के सारे चिह्न मिट गए और सुहागरानी अपना सुहाग साथ लेकर हंसी-खुशी चली गईं।

: ४ :

मेरी माताजी

श्री जैनेन्द्रकुमार

अपनी माताजी के बारे में कुछ कहते मुझे झिझक होती है। पिता को तो मने जाना ही नहीं। चार महीने का था, तभी सुनते हैं उनका देहान्त हो गया। पिता की ओर के किन्हीं संबंधी होने का मुझे पता नहीं। घर की हालत नकद या जायदाद की तरफ से एकदम सिफ़र थी। इससे छुटपन से ही हमारे परिवार का बोझ माताजी के मायके-वालों पर आया। लेकिन मेरे जन्म के बाद नाना और नानी अधिक काल नहीं रहे। मामा (महात्मा भगवानदीनजी) की उम्र छोटी थी और उसी अवस्था में उन्हें नौकरी पर जाना पड़ा। हम उन्हीं के आश्रय में पले।

पर मामा के मन में धर्म-श्रद्धा का बीज था। स्वाध्याय से वह अंकुरित हो रहा था। तभी ला० गेंदनलालजी का साथ उन्हें मिला। लालाजी भी फतहपुर में थे और धर्म की उन्हें गाढ़ी अभिरुचि थी। आचरण को अपने विश्वास के बराबर लाने की लगन में दोनों ने घर छोड़ व्रती और ब्रह्मचारी होने की ठानी। नौकरी उस यज्ञ में स्वाहा हुई और हम भाई-बहनों को लेकर माताजी अपनी मायके के घर अतरौली आगईं।

महात्माजी और ला० गेंदनलालजी भारत भर की तीर्थ-यात्रा पर निकले। माताजी साथ थीं, अर्जुनलालजी सेठी और बा० अजितप्रसादजी आदि भी साथ रहे। महात्माजी ने तो कुछ विजन वन-यात्रा भी की

अंत में घर छोड़न के कोई एक डेढ़ वर्ष के अनन्तर, हस्तिनापुर में ब्रह्मचर्याश्रम क़ायम हुआ और हम बालक उसके पहले ब्रह्मचारी हुए। बालकों की समस्या ऐसे हल हुई। बालिकाओं का भार माताजी पर आया। दो मेरी बहनें थीं, दो कन्याएं ला० गेंदनलालजी की थीं। घर के बड़े जब व्रती हुए तो हम बालक तो गुरुकुल में आगए; पर दोनों परिवारों में के शेष व्यक्तियों को संभालने के लिए माताजी के सिवाय और कोई न था। मामी (महात्माजी की पत्नी) भी उस दल में थीं। तय हुआ कि माताजी सबको लेकर बम्बई मगनबाईजी के श्राविकाश्रम में चली जावें। चल-सम्पत्ति में जितना जो था राई-रत्ती महात्माजी ने हस्तिनापुर-आश्रम की नींव में होम दिया।

आगे कैसे हुआ और क्या हुआ, यह माताजी ही जानती हैं। महात्माजी भी जानते होंगे तो शायद पूरा नहीं। महात्माजी ने अपने और अपनों के प्रति दया को कमजोरी समझा। बस अचल-सम्पत्ति अतरौली में नाना की कुछ बची रह गई थी। महात्माजी उधर से उदासीन हुए तो वह भार भी माताजी पर आया। अतरौली मामूली कस्बा है और सम्पत्ति में दो-तीन मकान ही कहिए, जिनकी आय विशेष क्या हो सकती थी। आधार के लिए सिर्फ वह, पालने को खासा कुनबा, और इस बारे में सोचने और करने-धरने को अकेली मेरी एक मां!

उस समय की बातों का ठीक ब्यौरा मुझे ज्ञात नहीं, अनुमान भर कर सकता हूं। शायद अतरौली में परिवार के भरण-पोषण के लिये माताजी ने अरहर की दाल का व्यवसाय किया था। बहुत छुटपन की मुझ धीमी-धीमी सुध है कि घर में चक्कियां चल रही हैं और दाल दली जारही है। माताजी पीसती थीं, मामी और दूसरे जन भी पीसते थे। शायद उस काम में खास नफा नहीं रहा; बल्कि कुछ टोटा ही पड़ा; क्योंकि बाहर का काम जिनके सुपुर्द था वे मर्द थे और अपने न थे, वेतन के थे। उसके बाद, याद पड़ता है, अतरौली और अलीगढ़ के बीच इक्के चलाने का काम उन्होंने शुरू किया था। खुले हुए इक्कों और दाना खाते और रह-रह कर हिनहिनाते हुए घोड़ों से भरे बाहर

के चौक की तस्वीर मेरे मन में अब भी कभी-कभी धुंधली-सी झलक आती है। यह काम भी फला-फूला, ऐसा नहीं जान पड़ता। फिर तो माताजी शायद मामाजी और चारों बहनों को लेकर बम्बई जा पहुंचीं। इससे पहले साधारण अक्षर-ज्ञान ही उन्हें रहा होगा। बम्बई में एक वर्ष के भीतर धर्म का अच्छा परिचय और अपनी व्यवहार-कुशलता के कारण लोक-संग्रह और सार्वजनिक कार्य में उन्होंने अच्छी दक्षता प्राप्त करली। बहुत जल्दी धार्मिक जनों में उनकी मांग होने लगी और वह इन्दौर, दिल्ली आदि स्थानों पर धार्मिक पर्वों और समारोहों के उपलक्ष्य में बुलाई जाने लगीं। धर्म-निष्ठा मूल से उनमें थी और मृत्यु-समय तक वह उसमें अडिग और तत्पर रहीं।

स्थापना के समय से ही हस्तिनापुर आश्रम को त्यागी भाई मोतीलालजी का सहयोग मिला। उनका एक मकान दिल्ली के सतघरे में था। भाईजी का आग्रह हुआ और माताजी ने उस मकान में शायद एक संस्था का आरंभ किया।

इससे पहले सेठ हुकमचन्दजी और कंचनबाईजी के अनुरोध पर कदाचित् एक वर्ष के लिए उनकी एक महिला-संस्था का संचालन माताजी पर आया था। बम्बई में मगनबाईजी के अलावा श्रीमती कंकुबाई और ललिताबहन आदि से उनका मैत्री-संबंध हो गया था और इन्दौर में कंचनबाईजी, पंडिता भूरीबाईजी आदि से उनका अत्यन्त स्नेह का सम्बन्ध बन आया।

इस अरसे में दिल्ली के धर्मवत्सल बन्धु-भगिनियों के प्रेम के कारण उनका दिल्ली आना-जाना होता ही रहता था। अन्त में यहां के भाई-बहनों के उत्साह और अनुरोध पर सन् '१८ में पहाड़ीधीरज पर जैन-महिलाश्रम की स्थापना हुई और माताजी उसकी संचालिका हुईं।

इतना कुछ करते-धरते हुए भी अतरौली के मकानों की देखभाल भी उनसे न छूटी थी। मामले-मुकदमे भी लगे ही रहा करते थे। इन्दौर श्राविकाश्रम-संचालन का काम और समय ही ऐसा था जिसमें उनपर अपने व्यय का भार नहीं पड़ा। शायद रहने-सहने के खर्च

के अतिरिक्त साठ रुपया उन्हें वहां मिलता था। शेष में तो अतरौली की सम्पत्ति की व्यवस्था के आधार पर ही उन्हें चलना था। इस तरह अपने पिता (हमारे नाना) के निजी रहने के मकान को छोड़ कर शेष जायदाद धीरे-धीरे करके उन्हें बेच देना पड़ी।

इधर सन् '१८ में हस्तिनापुर से मैं निकल आया था। साम्प्रदायिकता, दलगत और व्यक्तिगत स्पर्द्धा-वैमनस्य जो न कराये थोड़ा! परिणाम यह हुआ कि सन् '१७ में महात्माजी वहां से अलग हो चुके थे और सन् '१८ तक बड़ी श्रेणियों के बालक ज्यादातर वहां से जा चुके थे। निकल कर आया तब माताजी दिल्ली महिलाश्रम की संचालिका थीं।

सन् '१८ से सन् '३५ तक के उनके जीवन का मैं थोड़ा-बहुत साक्षी रहा हूं। वह इतिहास एक दृष्टि से मेरे लिए विस्मयकर है तो दूसरी तरफ से वह मेरे लिए दुःख और चिंता का कारण है। एक गहरी भीति, संकोच और उदासीनता उससे मेरे भीतर समा गई है। सन् '११ में छः वर्ष की अवस्था में उनसे छूटकर तेरह वर्ष का होकर सन् '१८ में मैं उनके पास आया था और इकतीस वर्ष की आयु तक उनके सम्पर्क में रहा। आखिर सन् '३५ में महायात्रा के प्रयाण पर उन्हें अकेला छोड़कर उनसे अलग मैं संसार में बचा रह गया। तेरह से तीस वर्ष तक की आयु के साल बनने और बिगड़ने के होते हैं। जो मैं बना-बिगड़ा हूं, उसमें इन्हीं वर्षों का हाथ रहा होगा।

विस्मय होता हैं मुझे माताजी के अदम्य उत्साह पर। उनका साहस कभी न टूटा। कर्मठता एक क्षण भी उनके जीवन में कोई मूर्छित नहीं कर पाया। मैंने कभी उन्हें अपने लिए रहते नहीं पाया। दो धोतियां उनके पास रहती थीं और संकल्प-पूर्वक चार धोतियों से अधिक वस्त्र उन्होंने अपने पास नहीं रखे। इसके अतिरिक्त चादर और फतूही। अपने में वह व्यस्त और ग्रस्त न थीं, जैसा अक्सर बुद्धिमानों का हाल होता है। अपने सम्पर्क में आने वालों में वह हिल-मिल कर उनके सुख-दुःख में मानों एक हो जाती थीं। परिवार का कोई व्यक्ति और किसी का विचार उनके स्नेह और चिंता से बचता न था।

आचार में वह कठोर थीं। मैं सदा का शिथिलाचारी, रात्रिभोजन के संबध में असावधान। लेकिन उनका इकलौता बेटा था तो क्या, मुझे याद है, शुरू में देर से लौटने पर कई दिन रात को मुझे खाना नहीं दिया गया है। कुल-मर्यादा और सामाजिक व्यवहार के शील-सम्भ्रम का उन्हें पूरा अवधान था। महिलाश्रम का सम्पूर्ण भार उनपर था। अर्थ-संग्रह, आंतरिक व्यवस्था, उसके अतिरिक्त जन-संग्रह भी। इस अति दुर्वह कर्म-चक्र के व्यूह में कभी हत-बुद्धि हो जाते मैंने उन्हें देखा है, ऐसा याद नहीं पड़ता। पैसा नहीं है, व्यवस्था-समिति ने धन रोक लिया है, मकान का कई महीनों का किराया चढ़ गया है। आश्रम में चालीस पैंतालीस आश्रित जन हैं। माताजी कल ही अमुक उत्सव या कार्य से लौटी हैं। मकान-मालिक का उन्हें नोटिस बताया गया। सब ओर की निराशा उन तक आई, व्यवस्था-समिति का विद्रोही और विक्षुब्ध रुख उनपर प्रकट हुआ। अभी ठीक तरह वृद्ध शरीर की थकान भी नहीं उतार पाई हैं कि सब सुनकर उन्होंने कहा, "शिवकुमारी, ट्रंक में दो धोती तो रख देना बेटा! कुछ मठरी-वठरी बना देनी होगी, रिपोर्ट और रसीदें रख देना। और क्यों, तू चलेगी? जाने दे, मैं अकेली ही चली जाऊंगी। सबेरे जाना होगा। ठीक करदे, बेटा!" देखा है कि इस तरह सदा ही वह निकल पड़ी हैं इस फैले विश्व के विश्वास के बल पर। अपना भरोसा उन्होंने कभी नहीं खोया है और भविष्य के प्रति किसी संशय को कभी मन में स्थान नहीं दिया है।

उनके प्रति विस्मय और श्रद्धा मुझमें बढ़ती ही गई है तो दूसरी ओर गहरा अवसाद भी मेरे मन में बैठ गया है। जगत के प्रति घोर उपेक्षा का-सा जो भाव भीतर समा गया है, मुझे हमेशा डसता रहता है। माताजी जैन-समाज की सदस्य थीं और सत्य की साक्षी से जानता हूं कि जीवन के अन्त के पच्चीस वर्ष उनके उस समाज की सेवा और चिन्ता में बीते। इस लगन में उन्होंने अपने को दया या क्षमा नहीं दी। लेकिन उनको जो पुरस्कार मिला, मेरी आंखों के सामने है। मन्दिर में, घर में, खुली सड़क पर उनका अपमान हुआ। वह मरीं तो

समाज की अपदृष्टि उनपर थी। इसपर कभी तो घोर नास्तिकता मेरे मन में छा जाती है। फिर सोचता हूं कि शायद सेवा-धर्म की यही परीक्षा है। जो हो, एक गहरा शोक सदा ही मन को डसे रहता है, जो जैन समाज से मुझे कुछ भयभीत और उसकी सेवा से कुछ दूर बनाए रखता है। जीवन में इस गम्भीर अकृतार्थता को लेकर मुझे जीना पड़ रहा है। माताजी पर सोचता हूं तो जान पड़ता है कि वह एक नारी थीं जिनको प्रश्रय नहीं मिला; बल्कि जिनसे प्रश्रय मांगा गया। लता बनकर दूसरे के सहारे उठने और हरे-भरे होने की सुविधा उन्हें नहीं मिली। वृक्ष की भांति अपनी निजता के बल पर उन्हें इस तरह उठना और फैलना पड़ा कि अनेकों को उनके तले छांह और रक्षा मिली। बाहर के आतप, वर्षा और शीत को अपने ऊपर ही उन्होंने सहा मगर आश्रितों को हर तरह सुरक्षा दी। वह जीवन से जूझती रहीं, इकली बनकर नहीं, स्वयं में एक संस्था बनाकर। अपने डैनों के नीचे अनेकों को समेटे इस अपार शून्यता में मानों हठपूर्वक वह ऊंचाई की ओर ही देखती गईं। समय आया तो शरीर गिर गया; लेकिन प्राण तब भी उसमें से ऊपर ही की ओर उठे।

मृत्यु-शैया पर थीं। गिनती के दिन ही अब उन्हें जीना था। मैंने कहा, "पीने को अंग्रेजी दवा ले लो।" लेकिन जो नहीं हो सकता था, नहीं हुआ। रात में उलटियां होती थीं, प्यास लगती थी, मैं कहता था, "क्या है, पानी पीलो न?" कहने से वमन के बाद कुल्ला तो उन्होंने किया; लेकिन कुछ भी हो, गले के नीचे एक घूंट पानी उतारने के लिए मैं उन्हें राजी न कर सका। अपने नेम को रखकर जिन्दगी को चुनौती देते जाने और उससे जूझते रहने की बात सुनता था, समझता भी था; लेकिन माताजी में उसे देखकर मैं सहमा रह गया हूं। उस आग्रह में गर्व भी तो न था एक निष्कपट सहजता थी। वह आग्रह विनम्र था, कट्टर तनिक भी न था और मेरे-जैसा तब का बुद्धिवादी भी उसे मूढ़ता कहकर टाल नहीं पाता था; बल्कि उसकी सत्यता के आगे बरबस उसे झुक जाना होता था।

एक कसक वह मन में लेकर ही गईं। वह थी मुझको लेकर। इस दुनिया में मैं कैसे जीऊंगा, जी भी पाऊंगा या नहीं, इस बारे में वह चारों ओर से आश्वासन खोजती थीं पर किसी ओर से इतना भी आश्वासन मरते दम तक उनको नहीं मिल सका। कोई अभिभावक न था। महात्माजी थे और उनकी गोद में लुढ़ककर तो उन्होंने प्राण ही दिये। पर उनके जैसे विरागी जन से सांसारिक अपेक्षा रखने का दोष मां से हो ही कैसे सकता था? उनकी सगी और अकेली बहन थीं; पर भाई को भाई से भी अधिक इतना मानती थीं कि उनकी आत्मलीन सांसारिक उदासीनता पर वह भूले भी कोई भार या आभार नहीं डाल सकती थीं। तब उनके इस अक्षम और निरीह इकलौते बेटे को अपनी छांह बढ़ाकर उसके तले ले लेनेवाला इस जगत में कौन था? फिर जगत के पास सहानुभूति का इतना अतिरेक भी कहां है कि उसकी आशा और अपेक्षा की जा सके? बल्कि उसे स्वयं सहानुभूति की भूख है। ऐसे में हे भगवान्, उनके इस इकलौते जैनेन्द्र का क्या होगा? मानों वह पूछती थीं और कहीं से इसका कुछ उत्तर न पाकर मरने के लिए वह अनुद्यत हो जाती थीं।

मुझसे उन्हें कुछ सांत्वना न थी। अपने पेट लायक रोटी भी मैं कैसे जुटाऊंगा। और उस वक्त तक तो दो बच्चों का पिता भी मैं हो चुका का। सच है कि साहित्य में थोड़ा-बहुत अखबारी नाम मेरा हो जाने के कारण कुछ तो उन्हें धीरज बंधा था; पर आर्थिक तल पर वह तनिक भी उनकी सांत्वना का निमित्त हो सका था, ऐसा मानने की भूल का वहाना मेरे पास नहीं है।

लेकिन महात्माजी का मानना है—और हम दोनों ही उनकी मृत्यु-मुहूर्त्त के साक्षी थे—कि मरने से काफी पहले उनके धार्मिक संस्कारों ने उन्हें संसार के रागादिक बंधनों से उत्तीर्णता दे दी थी और चिन्ता बांध कर नहीं, अन्दर के विश्वास का संबल लेकर अपनी अनन्त यात्रा पर उन्होंने इस धराधाम से कूच किया।

: ५ :

मेरी माताजी

सत्यवती मल्लिक

प्रात:काल की शांत स्निग्ध वेला में, जब मेरी नींद खुलती है, अकस्मात् श्रीनगर का वह अपना सफेद कमरा मेरी आंखों के सामने घूम जाता है और कानों में एक अत्यंत मधुर स्वर-ध्वनि। जाड़ों के दिन होते थे। कमरे के बाहर बराण्डे में चारां ओर घास की चटाइयां बर्फीली हवा को रोकने के लिए लगी होती थीं और कमरा भी चारों ओर गर्म पर्दों से ढका रहता था। बाहर सड़कों, छतों और वृक्षों पर बर्फ़-ही-बर्फ़ पड़ी होती थी, जिसे हम रजाई में से खिड़की के उस भाग से, जहां पर्दा तनिक हटा होता था, झांक कर देख लेते थे। चार-पांच बजे अंगीठी सुलगाते अथवा कमरे में सफाई करते हुए माताजी के गाने की आवाज सुनाई देती। हम भाई-बहनों की इच्छा होती कि अभी कुछ देर और बिस्तरों में लेटे रहें, किन्तु उसके बाद जब पिताजी भी उसी स्वर में साथ देने लगते तो मैं, भाई जयदेव तथा छोटी बहनें सम्मिलित होकर कमरे के वातावरण को गुंजा देते :

"किस भरोसे सोएं रइया हूं,
रहणा दो दिन चार बन्दे।
अपना आप पछान बन्दे।
जे तू अपना आप पछाता,
सांई दा मिलणा आसान बन्दे।"

उपरोक्त पंक्तियां आज से लगभग चार-पांच वर्ष पूर्व लिखी गई थीं; लेकिन कैसी विवशता है! काल की गति एवं इसी बीच बहन उर्मिला

के आकस्मिक देहावसान ने उस मधुर छवि एवं ध्वनि को धुंधला कर दिया है। फिर बड़ी सन्तान होने के कारण माताजी के दुःख-सुख में घुले-मिले जीवन के गिने-चुने वर्षों को प्रकाश में लाने के समय अनेक करुण प्रसगों का घिर आना स्वाभाविक है।

मामाजी का पत्र देरी से मिलने पर प्रायः माताजी छत की ओर देखते हुए आंसू भर लातीं। हमारी इतनी हंसी-खुशी और नाच-कूद के क्षणों में कभी-कभी ऐसा गम्भीर वातावरण माताजी क्यों ला देती हैं? हमें तनिक भी अच्छा न लगता। बाद में जाना कि माताजी का जन्म रावलपिंडी में उनके युवक पिताजी की मृत्यु के तीन-चार मास पश्चात् हुआ था। उनकी युवती माताजी ने पांच-छः बच्चों की मां होकर भी शेष जीवन संन्यासिनियों का-सा ही व्यतीत किया। माताजी तथा अपनी मौसीजी द्वारा सुना हुआ अपनी पूजनीय नानीजी का काल्पनिक चित्र सदा ही मुझे अत्यन्त मुग्ध करता रहा है। मीराबाई की तरह वे सदा सच्चे साधु-सन्तों से घिरी रहतीं; सबको खाना खिलाया जाता; कबीर, दादू, नानक, बुल्लेशाह प्रभृति भक्तों के पदों का कीर्तन सत्संग होता रहता। उनके स्वरचित पद भी माताजी के मुख तथा नानीजी की कई एक शिष्या वृद्धा स्त्रियों से सुनकर स्वर्गीया बहन पुरुषार्थवती ने संग्रह किए थे।

मेरी मातामही अत्यन्त रूपवती थीं। किस प्रकार वे घर के ही कई पुरुषों से अपना सतीत्व बचाए रहीं, इसकी कथा भी माताजी ने मुझे सुनाई थी। एक सुनी हुई बात मुझे उनके सम्बन्ध की कभी नहीं भूलती। उनके रूपवान् विद्वान् युवा पुत्र का देहान्त अकस्मात् हो गया। वह कुछ ही दिन पूर्व एक उच्च परीक्षा पास करके आए थे। मृत पुत्र के सिर को प्रायः एक घंटे तक गोदी में डाले वे समाधि में लीन रहीं। उसके बाद मुहल्ले की स्त्रियों को, जो स्यापा आदि करने आई थीं, (क्योंकि उन दिनों स्यापे की भयंकर प्रथा प्रचलित थी) शांतिपूर्वक उत्तर दिया, "मुझसे अधिक शोक और किसे हो सकता है? स्वयं उस तत्व को जानकर जब मैं शोक प्रकट नहीं कर रही हूं तो

आप लोगों के व्यर्थ रोने-धोने से मृतात्मा को शांति प्राप्त न होगी ।"

रावलपिंडी से श्रीनगर जाते हुए मार्ग में एक सुन्दर शीतल पड़ाव 'महूरा' नाम से जेहलम के ऐन किनारे पर पड़ता है। प्रायः वहां भी घोड़ा-गाड़ी या तांगे में बैठे-बैठे ऐसे ही माताजी के आंसू झर-झर पड़ते। इतने सुन्दर स्थान में विश्राम न कर, पावरहाउस को न दिखला, कोचवान को वहां से शीघ्र ही आगे निकल जाने का आदेश देने पर हमें बेहद शिकायत रहती; किन्तु माताजी की आंखें देख कुछ कह न सकते। धीरे-धीरे पता चला कि वास्तव में इस पावरहाउस के निर्माण का कार्य (जहां से समस्त काश्मीर-वेली को बिजली पहुंचती है) मेरे बड़े स्व० मामाजी के द्वारा ही सम्पन्न हुआ था—और माताजी वहीं उनके पास बहुत दिनों रही थीं। काश्मीर की सुन्दर विस्तृत उपत्यका में बस जाने का सौभाग्य पिताजी के काश्मीर जाने से सम्भवतः आधी शताब्दी पूर्व ही माताजी के पूर्वजों को रहा होगा।

यद्यपि अल्पावस्था में ही माताजी को पिताजी के साथ उनके छोटे-छोटे बहन-भाइयों तथा माता-पिता की सेवा एवं आर्थिक कठिनाइयों में भाग लेना पड़ा, किन्तु वीणा के दो मिले हुए तारों की तरह उन दोनों के हृदय से प्रत्येक विषय पर एक मृदु झंकार ही सदा मैंने प्रस्फुटित होते सुनी।

पिताजी को बाल्यकाल से ही ताल-स्वर-सहित संगीत का ज्ञान है। मृदंग भी वे थोड़ा-बहुत बजा लेते हैं। (अब भी श्रीनगर आने पर मैं सदा पार्श्ववर्ती कमरे से सांझ-सवेरे सूरदास के मधुर पद सुनने के लिए लालायित रहती हूं)। इसी से तब प्रभात-वेला में स्वतः ही जो अमर छंद फूट उठता था, वह आज इसराज, सितार आदि वाद्य यंत्रों को लेकर अनेक चेष्टाओं से भी बच्चों को न सिखा सकने पर कई बार खीज उठती हूं।

पिताजी यदि बाहर काम-काज के क्षेत्र में अथक परिश्रम करते थे तो माताजी को भी हमने कभी खाली बैठे नहीं पाया। "खाली बैठने से

श्वास-प्रश्वास निष्फल जाते हैं, आयु कम होती है।" ऐसा प्रायः वह कहा करतीं। बीमारी के दिनों में भी चारपाई पर बैठकर चर्खा कातने का नियम उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। उनके हाथों तैयार हुए पश्मीना आदि के ऊनी वस्त्र हमने बहुत दिनों तक पहने हैं।

कमीज़, सिलवार, फ्राक आदि घरेलू वस्त्रों की काट-सिलाई, भांति-भांति के नए डिजाइनों के स्वेटर, मोजे आदि का काम मैंने उन्हींसे सीखा है। किनारी, जरी, सलमा काढ़ने में तो वे सिद्धहस्त थीं ही। मेरे विवाह के अवसर पर लगभग सभी वस्त्र उन्होंने स्वयं कितने प्रेम से दिन-रात एक करके तैयार किये थे, जो अभी तक मेरे पास स्मृति-स्वरूप रखे हैं। पुराने वस्त्रों की काट-छांट और रंग-परिवर्तन में उन्हें बहुधा लीन देखकर पिताजी हंसा करते, "तुम्हारी मां तो नित्य वस्तुओं के संस्कार किया करती हैं।"

स्वास्थ्य के प्रति भी उनका दैनिक नियम वैसा ही निश्चित था। गीता, उपनिषद्, बाल्मीकि रामायण (टीका), ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका आदि वैदिक ग्रन्थों के अतिरिक्त 'भारत की प्राचीन वीर माताएं,' 'अंजना का जीवन-चरित' आदि उनकी निजी पुस्तकों पर स्वयं उनके हस्ताक्षर में 'देवकी देवी' नाम लिखे हैं। सुकन्या और अंजना की कहानी पहले मैंने उनके मुख से ही सुनी है। उनके दुःखों का वर्णन करते-करते वह रो पड़ती थीं। (स्व० बहन उर्मिला का नाम पहले 'अंजना' ही उन्होंने रक्खा था)। मंदालसा की कहानी तो उन्हें बहुत प्रिय थी। कई बार **शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि**—यह पूरा श्लोक सुनाते-सुनाते वह भाव-पूर्ण हो उठतीं। उनकी धारणा थी कि बच्चे जैसे ही बोलना, समझना प्रारम्भ करें, अक्षर-ज्ञान से पूर्व ही उन्हें वेद मन्त्र, दोहे, गीत, कहानियां कण्ठस्थ करा देने चाहिए। वे स्वयं भी ऐसा कर बाद में अर्थ समझा दिया करती थीं।

राष्ट्रीय विचारों से उनका हृदय ओत-प्रोत था। विदेशी वस्त्र शायद ही पहले कभी आए हों। लोकमान्य तिलक की वे अनन्य भक्त थीं। मुझे अच्छी तरह याद है कि तिलक के देहावसान के दिन वे

कितनी देर तक चुपचाप एकान्त प्रार्थना में लीन रहीं। 'केसरी' की वे नियमित ग्राहिका थीं। कलकत्ते के घोष-बन्धुओं तथा 'अमृत बाज़ार पत्रिका' आदि की चर्चा प्राय: उनसे सुनी है। 'गृहलक्ष्मी' भी घर में अवश्य आती रही होगी, क्योंकि उसकी पुरानी प्रतियों में चुटकुले, नानी की कहानी, लिलीपुर आदि से ही तो मैंने सर्व-प्रथम कल्पना-लोक में विचरना सीखा।

पिताजी सदा धार्मिक पुस्तकों का निर्देश किया करते; किन्तु 'कन्या मनोरंजन', बाद में 'भारत मित्र', 'ज्योति' आदि माताजी की ही अनुमति तथा प्रेरणा से मेरे नाम पर आती रहीं। हिन्दी, पंजाबी, उर्दू तो वे पढ ही लेती थीं, संस्कृत का अभ्यास कुछ समय उन्होंने श्रीनगर के विद्वान स्वर्गीय पं० गोविन्द राजदान से किया था। साधारण बोल-चाल की अंग्रेजी भी वे समझ जाती थीं। अपनी मां होने के नाते ही नहीं, कितनी बार आज तक अपने कुटुम्ब की तथा अनेक बाहर की स्त्रियों से तुलना करके मैंने यही पाया है कि वह असाधारण प्रखर-बुद्धि की थीं। कोई नया शब्द उन्हें मिला नहीं कि अर्थ बता करके रहतीं।

परिस्थितिवश हमारा प्रथम निजी मकान ठेठ काश्मीरी मुहल्ले में बना, जिसकी बाह्य गंदगी का दूषित प्रभाव माताजी के स्वास्थ्य पर पड़ा। इसीलिए हमारे गर्मियों के दिन बहुत बार नसीम, निशात, चश्मा-शाही की पहाड़ियों पर ही कटते। तब की बातें याद कर पुलक भर आते हैं। हम भाई-बहन शहतूत, सेब के पेड़ों पर चढ़े होते। कभी जीरा चुनने चश्माशाही के ऊपर जंगल में चले जाते। इधर सूर्य की अन्तिम किरणों से जब नीचे की झील झिलमिला उठती तो मामाजी, पिताजी दोनों ऊपर पहाड़ी की चोटी पर बैठकर कैसे संध्योपासना किया करते! पिताजी शहर से रोज काम करके साईकिल पर आया करते और माताजी कभी देर हो जाने पर प्रतीक्षा में सभी उछलते-कूदते बच्चों के पीछे-पीछे नीचे सड़क तक उन्हें लेने जातीं। बड़े होकर कभी याद करेंगे कि मां-बाप ने हमें जंगलों में पाला था। उनकी मोदभरी आवाज आज भी कानों में पड़ने लगती है।

काम लेने का ढंग उन्हें खूब आता था; क्योंकि घर में आने-जाने वाले दर्जी, धोबी, नौकरों के अतिरिक्त भिश्तियों-कुलियों तक से उनका व्यवहार अत्यन्त मृदु था। सबका दुःख-सुख वे सुनती थीं। एक वाक्य उनका कहा हुआ याद आ गया है—"जिह्वा शीरीं, मुलक जगीरी"—अर्थात्—यदि तुम्हारी वाणी में मिठास है तो सारा संसार तुम्हारा अपना है। पंजाब अथवा काश्मीर, जहां भी वे जातीं, लोगों का आना-जाना बना ही रहता। सभी छोटे-बड़े बाहर के लोगों में वे 'माताजी' के नाम से ही प्रसिद्ध थीं। वे प्रायः हंसा करतीं कि इतनी छोटी सी आयु में ही मुझे जगत्-माता की पदवी प्राप्त हो गई है। कई एक बाल-विधवाओं का जीवन उन्नत करने में उनका हाथ रहा, जिनमें से दो-एक को स्कूलों में आज अच्छी जगह पर नियुक्त देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है। आर्य-समाज श्रीनगर की तो वे विशेष कार्यकर्त्री थीं। सामाजिक कार्यों में योग देने के लिए चन्दा एकत्रित करने के दिनों में कभी सांझ-सबेरे ही घर पर नजर आती थीं, किन्तु इतना होते हुए भी गृहस्थी के कामों का मेरे पिताजी को तनिक भी पता न चलता, (और न घर की ही प्रत्येक बात में दखल देने की उनकी आदत कभी रही है)। रुपये ला देने भर का उनका काम था, यहां तक कि सर्दियों में पंजाब जाकर ठहरने के लिए मकान तैयार करवाने का उत्तरदायित्व माताजी को ही सौंपा गया। सबेरे-सबेरे ही वे कैसे ईंट-चूने, लकड़ी का प्रबन्ध करने जातीं, शाम को रजिस्टर लेकर हाजिरी लगातीं, मजदूरी बांटतीं! मकान पूरा बन जाने पर पिताजी आए तो बहुत प्रसन्न हुए; क्योंकि अपनी इच्छानुसार माताजी ने सभी सुविधाएं वहां जुटाली थीं।

स्टेट में बनने वाली इमारतों, नहरों आदि के विषय में भी उनकी सम्मति अवश्य ली जाती। कई बार कमरों के रंग, उनके बनाए वस्त्रों के बेल-बूटों को देखकर उनका ध्यान आता है। कैसी परिष्कृत रुचि थी उनकी! जब पूज्य पिताजी का कारोबार अधिक नहीं था, तब भी थोड़े खर्च में सुघड़ता एवं सुचारु रूप से सुन्दर व्यवस्था करना उन्होंने सहज में ही सीख लिया था। हर आठवें दिन सन्दूकों, पलंगों,

आदि सामान का स्थान-परिवर्तन करके नवीनता लाने का उन्हें बहुत शौक था। स्वच्छता को ही वे सौन्दर्य की प्रथम सीढ़ी मानती थीं। शुरू से ही हमारे घर में अतिथियों का आना-जाना बहुतायत से रहा है। आर्य-समाज के उत्सव के दिनों में उनकी संख्या तीस-चालीस तक पहुंच जाती थी; किन्तु माताजी रोटी बनाते-बनाते कभी घबराईं नहीं। प्रायः हम लोगों की अधीरता देख आज भी यह बात पिताजी को स्मरण हो आती है।

जहां तक याद है, कभी भूलकर भी बच्चों के सामने उन्होंने परस्पर मतभेद नहीं होने दिया और न ही बाहर से आने वाले लोगों की गपशप में कभी बच्चों को बैठने दिया। 'बच्चे क्या जो आंखों का संकेत न मानें।' इसका उन्हें गर्व था। यह नियंत्रण सफल भी इसी कारण हो पाता था; क्योंकि हम लोगों को समय पर माता-पिता के साथ खेलने की भी स्वतन्त्रता थी। जाड़ों की लम्बी रातों में उसी सफेद कमरे में हम प्रायः चारपाइयों, पर्दों, दरवाजों के पीछे चोर-चोर खेलते, माताजी 'दैय्या' बन आंखें मूंदतीं। बर्फ के ढेलों को लेकर भी मैं तो उनके साथ खेली हूं।

उनका साहस अपूर्व था। बहुत पुरानी एक रात मेरी आंखों के सामने चमक जाती है। उस समय काश्मीर तक मोटर-बस नहीं जाती थी। तांगा, घोड़ा-गाड़ी, इक्का का रास्ता, पांच-छः दिन का था। तब हम लोग रावलपिंडी जा रहे थे। माताजी प्रायः पगडंडी अथवा तांगे द्वारा पहले ही पड़ाव पर पहुंच जातीं, रहने की जगह आदि ठीक करके बिस्तर लगवातीं और खाने-पीने का प्रबन्ध करने में लग जातीं। वह रात 'छतर' नामक एक पड़ाव पर हमें काटनी थी। हमारे तीन तांगे सामान और बच्चों को लिए तो पहुंच गए; किन्तु पूज्य पिताजी का तांगा पीछे एक सुरंग से टकरा जाने से नहीं पहुंचा। अन्धेरी रात, घना जंगल और नदी-नालों की भयानक 'शां-शां'। ऐसे समय चिन्ता होनी कितनी स्वाभाविक थी! नौकर भी पीछे पिताजी के साथ था। कौन उन्हें लेने जाता? माताजी निर्भीकता से तांगेवालों के समूह में खड़ी हुईं और कहने लगीं, "भाइयो, मेरा मालिक पीछे रह गया है

और मैं अकेली हूं। छोटे-छोटे बच्चे साथ हैं। आप लोगों में से कौन साहसी पुरुष है, जो उन्हें लिवा लाए? दस रुपए इनाम दिए जायेंगे।" तांगेवाले प्रायः अकेला समझ छेड़-छाड़ अथवा परेशान करते; किन्तु माताजी के कहने के ढंग ने उन्हें ऐसा प्रभावित किया कि वे सब एक साथ कहने लगे, "नहीं जी, रुपयों की कुछ बात नहीं! यह तो हमारा कर्तव्य है।" फौरन दो तांगे जुत कर गए और पांच मील का कठिन उतार-चढ़ाव पार कर उन्हें लिवा लाए।

बातें साधारण हैं, किन्तु मेरे लिए अमिट हैं। फिर जिन अत्यन्त प्रियजनों के साथ हम एकप्राण होते हैं, उनकी क्या बातें भूली जाएं और क्या स्मरण करें? विवाह के दिन दोपहर के समय एकान्त में जो शिक्षायें वे मुझे दे रही थीं—"मुझे अपनी दूसरी मां (सास) मिल जायगी। ननद-जिठानियां बहनों के बदले होंगी, शरीर-रक्षा और भोजन के संबंध में कितनी ही बातें; किसी की गरीबी, दुर्बलता एवं बड़े परिवार देखकर हंसी मत उड़ाना, किसी काम में आलस्य कदापि न करना, अपने पिताजी का नाम सदा उज्ज्वल करना, अपयश ससुराल-वालों की अपेक्षा मां-बाप का ही होता है..." इत्यादि—वे मुझे आज भी स्मरण हैं, किन्तु वे काम के लिये इतना कहती थीं तो क्यों? जब वे दयानन्द-शताब्दी के अवसर पर मथुरा, आगरा होते हुए दिल्ली आईं तो लगातार दो घंटे तक मुझे रोटी बनाते देख आंसू भरकर उन्होंने बार-बार मेरे हाथ चूम लिए थे। और जब मैं प्रथम बार दिल्ली से होकर श्रीनगर गई तो क्यों सारी रात उन्होंने पन्द्रह-सोलह वर्ष की इतनी बड़ी लड़की को पास सुलाए रक्खा? वर्षों तक यह मेरी स्थूल बुद्धि में नहीं आया।

दिल्ली से लौटकर उन्हीं गर्मियों में वे प्रसूत ज्वर से बिस्तर पर ऐसी पड़ीं (छः बहनों के बाद एक भाई हुआ और जाता रहा) कि उठ नहीं सकीं। वे दिन अत्यन्त करुण हैं, शुश्रूषा आदि मुझे ही करनी होती थी। उनके दुःख को याद कर कांप उठती हूं। बीमारी के दिनों में भी वे पिताजी के उदास मुख को देख उन्हें सहज विनोद से हंसा देतीं। उनके बाहर

से आकर हाल पूछने पर सदा ही यह उत्तर होता—"बहुत अच्छा, पहले से ठीक है।" पिताजी के लिए जो थाली परोस कर आती तो वे उचक कर देख लेतीं कि खाना उन्हें ठीक मिल रहा है या नहीं ? उनकी कमीज़ पर बटन लग रहे हैं, बूटों पर पालिश हुई है ? (क्योंकि पिताजी के इन कामों को उन्होंने किसी पर नहीं छोड़ा था)। पिताजी ने भी डेढ़ वर्ष तक सारा काम-काज छोड़ लगकर दिन-रात उनकी सेवा की। अन्त में जाड़ा अधिक हो जाने के कारण डाक्टरों ने उन्हें पंजाब चले जाने की सम्मति दी। अन्तिम बार मोटर में बैठे हुए जब उन्होंने मेरा माथा चूम कर विदा ली और आस-पास खड़े छोटे बच्चों को रुद्ध-कण्ठ से मानों मुझे सौंप जाने का संकेत किया वह आजीवन मेरे हृदय पर लिखा रहेगा। उस करुण-दृश्य को देखकर मोटर ड्राइवर तक रोकर बोल उठा, "आपणियाँ माँवा ठंडिया छाँवा"—अर्थात्—"अपनी माँ शीतल छाया होती है।"

वे स्वयं भी तो कहा करती थीं, "मुर्ग़ी जैसे पंखों के नीचे नन्हें चूज़ों को संभाले रखती है, आँच नहीं आने देती, इसी प्रकार छोटे बच्चों के लिए ग़रीब माँ का होना भी आवश्यक है।"

कुछ दिन बाद पिताजी लौटे तो सुनाया कि एक बार वे मुझे और भाई को देखना चाहती थीं। वे चाहती थीं—उनकी अर्थी के पीछे कीर्तन-भजन होते जाएँ। कोई रोये नहीं। शुद्ध खादी की साड़ी भी पूर्व ही उन्होंने मँगा ली थी। अन्तिम दिन प्रातःकाल उन्होंने पूछा, "मेरे बचने की अब कोई आशा नहीं ?" जबतक सांस है तबतक आशा रखनी चाहिए, किन्तु जैसे उस दिन वे समझ गई थीं। अन्तिम बार उसी समय उन्होंने पिताजी के साथ मिलकर यह पद गाया—

"सांची प्रीति प्रभु तुम संग जोड़ी।
तुम संग जोड़ जगत संग तोड़ी॥"

और वेद-मन्त्रों का पाठ करती हुई कुल ३८ वर्ष की आयु में ही, जबकि उनकी अल्हड़ बच्चियों को अपार स्नेह और बहुत कुछ सीखने की आवश्यकता थी, चली गईं।

अमर व्यक्तित्व

१. 'आज़ाद' की माँ
वैशम्पायन
२. पतिव्रता जयिनी मार्क्स
बनारसीदास चतुर्वेदी
३. सरोज नलिनी दत्त
सत्यवती मल्लिक
४. डोरोथी वर्ड्सवर्थ
सत्यवती मल्लिक
५. राष्ट्र-माता बा
सत्यवती मल्लिक
६. 'टामकाका की कुटिया' की अमर लेखिका : स्टो
बनारसीदास चतुर्वेदी
७. ग्रेसडार्लिंग
सत्यवती मल्लिक
८. तपस्विनी मैडम क्यूरी
सत्यवती मल्लिक

: १ :

'आज़ाद' की माँ

श्री वी० जी० वैशम्पायन

रतलाम से बी० बी एण्ड सी० आई० की गाड़ी पूर्ण वेग से रोज का रास्ता तय कर रही थी। यात्री हर स्टेशन पर उतरते और चढ़ते थे; परन्तु मैं वर्षों की एक घटना का स्पष्ट चित्र देखने का प्रयत्न कर रहा था।

सन् १९२९ से '३१ तक का साल हिन्दुस्तान के क्रांतिकारी-आन्दोलन के इतिहास का उज्ज्वल पृष्ठ है। बंगाल में आतंकवाद की ज्वाला प्रज्वलित थी। चिटगांव-सशस्त्र-आक्रमण के बाद तो बंगाल की तानाशाही सरकार की नींद हराम हो गई थी। अपनी समस्त पाशविक शक्ति लगाकर क्रांतिकारियों को मिटाने का वह प्रयत्न कर रही थी। उत्तर हिन्दुस्तान में भी सैन्डर्स-हत्याकाण्ड और एसेम्बली-बमकाण्ड के बाद पहले-पहल लाहौर-षड्यंत्र का मुकदमा था, फिर भी क्रान्तिकारी खामोश न थे। वाइसराय की गाड़ी उड़ाने का प्रयत्न और भगतसिंह तथा दत्त को छुड़ाने के प्रयत्न, भावलपुर रोड पर एक कोठी में बमों का फटना—यह पुलिस और सरकार के लिए एक चुनौती थी।

पुलिस समझ गई कि कुछ नौजवानों को पकड़ लेने से काम खत्म नहीं हुआ। पुलिस इन क्रांतिकारियों को खोज निकालने में सिर-चोटी का पसीना बहाये दे रही थी। आखिर देश-द्रोहियों के कारण उसे सफलता मिल गई। अपनी लापरवाही के कारण कैलाशपति दिल्ली में अपनी प्रेयसी चन्द्रावती के साथ गिरफ्तार हुआ। मोह ने आ घेरा,

चन्द्रावती की शुभ कामना की आड़ में उसने विश्वासघात किया। कानपुर, झांसी, लखनऊ, ग्वालियर, अजमेर इत्यादि स्थानों में तलाशियां और धर-पकड़ शुरू हो गई। चन्द्रशेखर 'आज़ाद' ने कानपुर छोड़ दिया, कारण वहां पर भी एक विश्वासघाती पैदा हो गया, जो आजादी की लड़ाई का सबकुछ मिटाने को तैयार था। वह अपनी ही भूल से शत्रु के पंजे में फंस कर मुखबिर बन गया।

कानपुर छोड़ कर इलाहाबाद अस्थायी हेडक्वार्टर बनाया गया। इन दिनों, आये दिन किसी-न-किसी क्रांतिकारी के गिरफ्तार होने की खबर अखबारों में छपती रहती। 'आजाद' की आंखों में नींद न थी। दिन-रात यही समस्या उनके सामने थी कि क्रान्तिकारियों की बिखरी शक्ति को किस तरह इकट्ठा किया जाय। ऐसे ही दिन बीत रहे थे। एक दिन खाना खाकर मैं कुछ सोचता और कुछ ऊंघता पड़ा था।

एक गम्भीर परन्तु करुण-स्वर में 'आजाद' ने पुकारा, "बच्चन !"

मैं इस स्वर को पहचानता था और जानता था कि इसका अर्थ है किसी गम्भीर विषय का निश्चय।

"बच्चन, मुझे तो ऐसा दिखाई देता है कि लाहौर-षड्यंत्र के बाद का उत्तर हिन्दुस्तान के क्रान्तिकारियों का संगठन एक बार तहस-नहस हो जायगा।" कुछ दिन बाद ही 'आजाद' की वह भविष्य-वाणी पूरी हो गई।

मैं आगे की बात सुनने के लिए उत्सुक हो उठा। उनकी आंखों में करुणा का एक भाव आया; पर शौर्य ने उसे दबोच दिया। आंसू बनकर बहने न दिया। 'आजाद' पर बहुत से साथियों का यह आरोप था कि वे संगदिल थे; पर सच बात और ही थी। उनका हृदय रोना जानता था किसी उच्च आदर्श के लिए मर मिटने वाले वीर के लिए। उनका दिल पिघलना जानता था, दीनता की पराकाष्ठा पर। उनकी आंखों में मैंने आंसू तीन बार देखे—भगवतीचरण की मृत्यु पर, भगतसिंह की स्मृति में और एक बार और। आदर्श की वेदी पर जिसने बचपन से ही अपना सबकुछ लुटा दिया, मां-बाप के रहते हुए भी उनकी माया-ममता को ठुकरा दिया, ऐसे शहीद

आज़ाद के दिल में माया थी, ममता थी और दया भी थी; पर जबतक भाव सोते रहते तबतक संसार उन्हें एक कर्म-क्षेत्र के सिवा और कुछ नज़र न आता। गाना उनके लिये गला फाड़ने के सिवा और कुछ न था; परन्तु जब उनका सोया प्रेम जागा तब उन्होंने जाना कि संसार में केवल हम लड़ने के लिये ही नहीं जीना चाहते; बल्कि जीने के लिये लड़ते हैं। फिर तो उन्हें गाने से एक अजीब प्रेम हो गया।

"बच्चन, तुम तो जानते ही हो कि फांसी की रस्सी मेरा गला घेरे है...। मैं चाहता हूं कि तुम यहां से मेरे घर चले जाओ।" 'आज़ाद' ने कहा।

मैंने पूछा—"पर वहां क्या करूंगा? मेरा काम तो यहीं है।"

कुछ देर ख़ामोशी रही।

"अच्छा बच्चन, जब कभी तुम गिरफ़्तारी के बाद रिहा हो, मेरे घर अवश्य जाना।" उनकी यह बात उनके मरने पर भी मेरे कानों में गूंजती रही।

× × ×

आख़िर रिहाई का दिन आया। बाहर लोग स्वागत के लिये आए; पर मेरे मन में वे शब्द फिर गूंज उठे—"अच्छा बच्चन, रिहा होने पर मेरे घर अवश्य जाना।"

जाना तो मुझे तुरन्त ही चाहिए था; परन्तु रिश्तेदारों और मित्रों के मोह ने आ घेरा। आख़िर उस दिन, जुलाई २२ को, सब कठिनाइयों को पार कर चल ही पड़ा। मेरे छूटने के कुछ ही मास पूर्व उनके पिता की मृत्यु हो चुकी थी। रह गई थी केवल बुढ़िया मां। बीच में लोगों ने यह भी उड़ा दिया था कि वे दोनों ही चल बसे।

गाड़ी दोहद पहुंची। यहीं पर अलीराजपुर जाने के लिये मोटर मिलती है। हम तीनों मित्र एक अपरिचित प्रान्त में पहुंचे। रास्ते में कन्हैयालालजी वैद्य मिल गए। उन्होंने हमें दोहद में ठहरने का एक ठिकाना बता दिया था। वैद्यजी के साथ हमें देखकर वहां ख़ुफ़िया पुलिस ने कान फटफटाये।

कन्हैयालालजी जबतक स्टेशन पर किसी परिचित को ढूंढें तबतक पुलिसवालों ने हमारा नाम-पता जानने के लिये एक षड्यंत्र रच लिया। हमें जिन महाशय के यहां जाना था उसी नाम के एक व्यक्ति स्टेशन के पास ही रहते थे। कुली ने पहले हमें वहीं पहुंचाया; पर जब उसकी भूल पर उसे डांटा-डपटा गया तो वह एक तांगा ले आया। तांगे में पहले से ही दो व्यक्ति सवार थे। हमें जल्दी थी। इस कारण हम लोगों ने इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया। अभी हम दोहद के बाजार में पहुंचे ही थे कि एक पुलिसवाले ने तांगा रोक कर तांगेवाले का पांच सवारी बैठाने के कारण चालान करना चाहा। गवाही में हमारे भी नाम-पते लिखे गए। बाद में हमें पता चला कि यह सब नाटक केवल हमारा नाम पता लेने के लिए किया गया था और वह भी इसी कारण, क्योंकि हम कामरेड कन्हैयालाल के साथ गाड़ी से उतरे थे।

दूसरे दिन सबेरे आठ बजे मोटर से हम भावरा पहुंचे। यह अलीराजपुर रियासत में है। यही शहीद चन्द्रशेखर 'आज़ाद' की जन्मभूमि है। यहां की वनश्री देखने योग्य है। यहां न मिलों का कोलाहल है और न मानव के कृत्रिम सुखों का साधन। प्रकृति अब भी वहां के अधिक भागों पर अपना साम्राज्य बनाये है। पानी नहीं बरसा था, फिर भी पहाड़ी पर हरियाली दिखाई देती थी। गांव के पास ही एक छोटी-सी नदी बहती है, जो कुकसी कहलाती है। इसमें पानी सूख गया था, पर कहीं-कहीं गड्ढे भरे हुए थे। भील स्त्रियां इन गढों से पीने के लिए पानी भर ले जाती हैं। भावरा के आस-पास के प्रदेश में भीलों की आबादी है। न इन्हें खाने का शौक है, न पहनने का। हां, इन्हें शौक है तो ताड़ी और अफ़ीम का। इसके लिए तो वे अपने आप को भी बेच सकते हैं। कपड़े के नाम इनके बदन पर नीचे एक लंगोटी और सिर पर एक फटी पगिया बंधी रहती है। तीर-कमान वे हर वक्त साथ रखते हैं। यही है आड़े समय का उनका हथियार। भावरा में सप्ताह में दो बार हाट लगती है, इसी कारण

भावरा में ज्यादातर दूकानदार ही रहते हैं और रहते हैं कुछ सरकारी नौकर।

यहीं पर २० वीं सदी के प्रारम्भ में चन्द्रशेखर 'आज़ाद' के पिता आकर बसे थे। इनकी दो ही सन्तानें थीं। 'आज़ाद' के बड़े भाई सुखदेव उनके जीवित रहते ही काल का ग्रास हो चुके थे और 'आज़ाद' के विषय में तो दुनिया ही जानती है; पर हाय रे मां का हृदय! वह जानते हुए भी अभी तक विश्वास नहीं कर सकी है कि 'आज़ाद' इस दुनिया में नहीं है।

गांव के एक छोर पर जंगल के सहारे एक जीर्ण-शीर्ण झोपड़ी के सामने ले जाकर एक व्यक्ति ने हमें खड़ा कर दिया——यही है तिवारीजी का मकान।

'आज़ाद' के पिता वहां इसी नाम से पुकारे जाते थे। माताजी घर पर नहीं थीं। उत्सुकता हुई——शहादत के इस दरिद्र रूप को देखने की। बार-बार दिल में यही भाव उठते थे कि हिन्दुस्तानी किसी के पूजक हो सकते हैं; पर उसकी कीमत आंकना नहीं जानते। जिसने आज़ादी के लिये अपने प्राण गंवाये उसकी बूढ़ी मां दाने-दाने को तरसे! रहने के लिये टूटी झोपड़ी उसे नसीब हो!

उस टूटी झोपड़ी को देखकर क्या कोई सोच सकता था कि जिसने एक बार देश में ब्रिटिश सरकार को हिला दिया वह इसी झोपड़ी में पैदा हुआ होगा और जीवन के १२ वर्ष इसी में उसने बिताये होंगे?

हम तीनों व्यक्ति विचारों की उधेड़-बुन में पड़े हुए थे कि इतने में किसी के पैरों की आहट सुनायी दी। एक वृद्धा धीरे-धीरे जीवन के भार को आगे ढकेलती हुई अन्दर आई। किसी के परिचय कराने की आवश्यकता न पड़ी। मैं पैरों की तरफ झुका। मां के हृदय ने बीच में ही रोक लिया, फिर, पर फिर क्या...? वही अश्रुओं की मूक भाषा, जो मूक होते हुए भी सबकुछ कह डालती है। मैं हत-बुद्धि-सा मां के बाहुपाश में और मेरे पास ही मेरे साथी खोये-से

खड़े रहे। किसी को भी कुछ न सूझता था। सान्त्वना के लिये उस समय मौन से अधिक अच्छी और कोई दवा न थी।

धीरे-धीरे अश्रुओं का वेग स्वयं ही रुक गया। कोलाहल सुनकर पड़ोसी आ जुटे। सवाल होने लगे। वृद्धा स्वयं ही उत्तर देती थी।

एक ने पूछा—"कहां से आये हैं? देश से?"

वृद्धा मां ने उत्तर दिया—"हां।"

दूसरे ने पूछा—"वहां पानी कैसा है?"

हमने उत्तर दिया—"अच्छा है।"

इसी तरह थोड़ी देर तक सवाल-जवाब की झड़ी लगी रही। धीरे-धीरे पड़ोसी खिसकने लगे।

मां पास सरक आई और धीरे से पूछने लगी—"सच बताओ भैया, चन्द्रशेखर मर गया?"

मैं इधर-उधर देखने लगा। कैसे बताता कि चन्द्रशेखर इस संसार में नहीं है। मेरे साथियों में से एक ने कहा—"हां मां, वे अब ज़िन्दा नहीं हैं। इसका तो तुम्हें भी पता लग गया होगा?"

"हां बेटा, एक बार गांव के लोगों ने एक फोटू दिखाया और कहा था कि वह लड़ाई में मारा गया; पर बेटा, हमारी तो समझ में नहीं आया कि उसने ऐसा कौन-सा काम किया था, जिससे उसे लड़ाई लड़नी पड़ी और फोटू छपकर बिके? मेरा तो सबकुछ होकर भी कुछ नहीं रहा। मैं निपूती-की-निपूती ही बनी रही। ज़िन्दा हूं, इसी-से इस पेट का भाड़ा चुकाने के लिए कुछ-न-कुछ करना पड़ता है। मैं तो उस दिन की बाट जोह रही हूं, जब भगवान मेरी सुन लें।"

इसी प्रकार मां अपने जीवन के दुःख को कहकर हल्का करती रही। इसी बीच बुढ़िया को हमारे पेट का ख्याल आया। बहुत मना करने पर भी वह न मानी। दाल, भात, साग और रोटी बनी।

मां की उम्र ६० से ऊपर है। शरीर दुर्बल, मुंह में एक दांत नहीं। एक आंख बहुत सिर-दर्द होने के कारण निकलवा देनी पड़ी और दूसरी से भी कम दिखाई देता है। खाना कभी बना, कभी नहीं,

फिर भी अपने हाथ से दोनों वक्त पानी भरना, रोटी बनाना, बर्तन धोना इत्यादि संसार के सभी काम करती है।

झोपड़ी में एक ही कमरा है और आगे जरा-सा सहन। सारी झोपड़ी बांस की बनी हुई है। कारण यहां के जंगल में बांस कसरत से मिलता है। सामने आंगन में एक आम का और पपीते का पेड़ लगा हुआ है और उसके आगे बांस की छोटी सी किवड़िया है, जो हाते का फाटक है। पिछली ओर कुछ साग-तरकारी लगा रक्खी है। अगर बकरियों से बच गई तो मुहल्ले वाले उसपर हाथ साफ़ करते हैं और उनसे बचने पर मां के हिस्से में आती है। रात को रावजी नाम का एक भील एक वक्त वहीं खाना मिलने पर एक बोथरी तलवार लिए सोता है, इसलिए कि जंगली भील मौका पाने पर चोरी करने से नहीं चूकते।

हमारे वहां जाने से बुढ़िया के जीवन में एक परिवर्तन हुआ। उसे समय काटने का साधन मिल गया। सवेरा होते ही उसे हमारी चाय की फिक्र होती और दोपहर को बारह बजते ही भोजन की। हम बहुत मना करते; परन्तु इसमें उसे सुख और आनन्द मिलता। चाय पीकर हम आस-पास के जंगल में घूमने निकल जाते और दोपहर को जब लौटते तो बढ़िया को बाट जोहते पाते। उसे स्मरण हो आते अपने पुराने दिन, जो अब कहानी बन गये थे। हां, ठीक इसी तरह तो वे अपने लड़कों का रास्ता देखा करती थीं। हमें देखते ही वह झट सवाल कर बैठतीं--"बच्चा, आज बहुत लम्बे निकल गये रहौ का ?"

"नहीं अम्मा, यहीं तो नदी पर बैठे थे।"

मां खाना परोसती। हम झगड़-झगड़ कर खाते। बुढ़िया हंसते-हंसते कहती--"बेटा, चले जाओगे तो यही बातें मुझे रुलायंगी। अब तुम यहीं रहो, बच्चा।"

नित-नये प्रकार का भोजन होता, सादा पर सुस्वाद। एक दिन घर के आम का अमावट खाने को मिला। मां इसे उपवास के दिन

पानी में शरबत बना कर खाती थी। यही होता है उसके उपवास के दिन का आहार। रात को ११-१२ बजे तक मोहल्ले की बूढ़ी औरतें आ बैठतीं और इधर-उधर की बातें कहतीं और पूछती।

जब भी हम जाने का नाम लेते, मां कह उठती, "नहीं, बच्चा कुछ दिन और रहो।" आखिर जाने का दिन निश्चित हुआ; पर विदा के समय की वह करुण-दृष्टि कभी नहीं भूलेगी। वह बार-बार यही कहती, "सूना घर और दरिद्रता तो मेरे जीवन के साथी हैं।"

दुनिया 'चन्द्रशेखर 'आज़ाद' जिन्दाबाद' कह सकती है; पर उनकी मां के त्याग को स्मरण करने के लिए संसार के पास न तो समय है और न देखने के लिए आंखें।

• ८ •

पतिव्रता जयिनी मार्क्स

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

"...न, यह खयाल मत करना कि इन छोटे-छोटे कष्टों के कार में हिम्मत हार बैठी हूं। मुझे यह अच्छी तरह मालूम है कि मैं अकेल ही तकलीफ में नहीं हूं। दुनिया में लाखों आदमी मुझसे कहीं अधि कष्ट पा रहे हैं; बल्कि मैं तो यह कहूंगी कि इन तमाम दुःखों के हो हुए भी मैं बड़ी सौभाग्यशालिनी हूं। दरअसल मैं अपने को बहुत सुख मानती हूं, क्योंकि मेरे प्रिय पति, जो मेरे जीवन के आधार हैं, बराब हर वक्त मेरे साथ हैं। हां, एक बात है, जिसके बोझ से मेरी अन्तरात्म दबी जा रही है और जिससे मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है, वह यह कि मेरे पति को इतनी अधिक चिन्ता करनी पड़ती है और इतनी तकली उठानी पड़ती है! अत्यन्त भयंकर दुःखमय स्थिति में भी वे आत्म-विश्वा नहीं खोते, भविष्य के लिए आशा करते हैं, हमेशा हंसमुख बने रहते और हंसी-मजाक करते रहते हैं। मुझे प्रसन्नचित्त देखकर उन्हें बड़ खुशी होती है और जब वे प्यारे बच्चों को मेरे चारों ओर किलकारिय मारते हुए देखते हैं तो उनका हृदय प्रफुल्लित हो उठता है।"

साम्यवाद के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स की धर्मपत्नी जयिनी उपर्युक्त पत्र अपनी एक सहेली को लिखा था। अब उन छोटे-छोटे कष्ट का भी हाल सुन लीजिए, जो इस दम्पति को उठाने पड़ रहे थे।

उन दिनों कार्ल मार्क्स लन्दन में रह रहे थे। डीन स्ट्रीट नं० २८ में दो छोटे-छोटे कमरों में अत्यन्त निर्धन आदमियों की बस्त में अपने तमाम बाल-बच्चों के साथ छः वर्ष तक उन्हें रहना पड़ा था

एक शयन-गृह और दूसरा बैठकखाना, रसोईघर और पढ़ने-लिखने के कमरे का काम देता था। आर्थिक संकट का क्या कहना ! कार्लमार्क्स के जीवन-चरित में ई० बी० कार नामक लेखक ने लिखा है—"कितने ही अवसर ऐसे आते थे, जबकि घर में एक पेनी भी नहीं रहती थी और बाल-बच्चों के साथ भूखों मरने की नौबत आ जाती थी। मकान-मालिक और दुकानदारों के तकाजों के मारे नाकों दम थी। हर घड़ी कोई-न-कोई खड़ा रहता था। दरवाजे पर आवाज आती रहती थी—"मार्क्स, ओ मार्क्स, हमारे दाम अभी तक नहीं पहुंचे, हिसाब कबतक साफ करोगे ?" बच्चे भी इस स्थिति को समझ गये थे और वे यह जवाब देना भी सीख गये थे—"मिस्टर मार्क्स घर पर नहीं हैं, कहीं बाहर गये हुए हैं।" कभी इस दुकानदार से रुपया उधार लाते तो कभी उससे। कभी किसी दोस्त का दरवाजा खटखटाते तो कभी किसी बौहरे के यहां अपनी स्त्री का गहना गिरवी रखने जाते।" एक चिट्ठी में कार्ल मार्क्स ने लिखा था—"पिछले पन्द्रह दिनों में मुझे नित्यप्रति छः-छः घंटे इधर-उधर दौड़ना पड़ा है, जिससे कहीं से छः आने पैसे जुटाकर अपने बाल-बच्चों के तथा अपने पेट में कुछ डाल सकूं।" कभी-कभी तो उन्हें लिखने के लिए कागज लाने के वास्ते अपना ओवरकोट भी गिरवी रखना पड़ता था !

फरवरी सन् १८५२ में कार्ल मार्क्स ने अपने परम मित्र एंजिल्स को लिखा था—"पिछले हफ़्ते-भर से मेरी हालत बड़े मजे की रही है। सर्दी के मारे घर से निकला नहीं जाता, क्योंकि ओवरकोट तो गिरवी रखे हुए हैं और गोश्त भी खाने को नहीं मिलता; क्योंकि कसाई ने उधार देने से इन्कार कर दिया है ! इस बीच में एक ही ख़ुशखबरी सुनाई दी है, वह यह कि आखिर मेरे चचिया ससुर साहब बीमार हैं। साली की चिट्ठी में यह शुभ समाचार आया है। अगर ये मनहूम चल बसे तो मेरी स्त्री को कुछ पैसा मिल जायगा और मेरा इस संकट से उद्धार हो जायगा।" पर चचिया ससुर साहब को अपने भाई के दामाद की इस प्रकार सहायता करने की जल्दी नहीं थी।

सारे कुटुम्ब के भूखों मरन की नौबत आ गई थी। कभी-कभी उन्हें भोजन के लिए केवल रोटी ही मिलती थी और उसमें भी मार्क्स को अपना भाग छोड़ देना पड़ता था, जिससे बच्चों को भरपेट भोजन मिल सके। भूख और जाड़े से चेतनाहीन-से होने पर भी कार्ल मार्क्स ब्रिटिश म्यूजियम में जाकर अध्ययन करते थे और सामयिक पत्रों के लिए लेख लिखकर, जिनका पारिश्रमिक बहुत थोड़ा मिलता था, वे कुछ पैसा कमा लेते थे और अपनी गुजर करते थे। निर्धनता से अत्यन्त तंग आकर उन्होंने रेल के दफ्तर में क्लर्की के लिए अर्जी दी; पर हस्ताक्षर खराब होने के कारण वह भी नामंजूर हो गई। बाद में वे 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' के लन्दन के संवाददाता नियुक्त हुए। इससे उन्हें एक पौण्ड प्रति सप्ताह मिल जाता था। वर्षों तक इसी अल्प आय पर सारे परिवार को गुजर करनी पड़ी थी। लन्दन-जैसे महानगर में एक पौण्ड की नाम-मात्र की आमदनी से क्या हो सकता था, इसका अनुमान पाठक खुद ही कर सकते हैं।

श्रीमती जयिनी मार्क्स ने अपने एक पत्र में लिखा था—"हम लोगों के विषय में कोई यह नहीं कह सकता कि हमने वर्षों तक जो त्याग किये थे, अथवा जो-जो बातें सही हैं, उनका कभी ढिढोरा पीटा हो। हमारे व्यक्तिगत मामलों और दिक्कतों की खबर बाहर बिल्कुल नहीं गई अथवा यदि गई भी तो बहुत थोड़ी। अपने पत्र का राजनैतिक सम्मान बचाने के लिए और अपने मित्रों के नागरिक सम्मान की रक्षा के लिए मेरे पति ने सारा बोझ अपने कन्धों पर उठा लिया। उन्होंने अपनी सारी आय खर्च कर दी और विदा होते समय सम्पादकों का वेतन तथा अन्य बिल चुकाए, और वे जबर्दस्ती अपने देश से निकाल-बाहर किये गए। तुम जानते हो कि हमने अपने लिए कुछ नहीं रखा। मैंने फ्रांकफुर्त जाकर अपनी चांदी के अन्तिम बर्तन गिरवी रखे थे और कोलोन में अपना फर्नीचर बेचा था! तुम लन्दन की और वहां की अवस्था को काफी अच्छी तरह जानते हो। तीन बच्चे थे और चौथा उत्पन्न होनेवाला था! केवल किराये में प्रतिमास ४२ थेलर चले जाते

थे। हमारी जो कुछ थोड़ी जमा-पूंजी थी, वह शीघ्र ही बिला गई। दूध पिलानेवाली धाय के रखने का सवाल कल्पना से परे था, इसलिए मैंने अपना ही दूध पिलाकर बच्चे का पालना निश्चय किया, यद्यपि मेरी छाती और पीठ में बराबर भयानक दर्द रहता था। उस नन्हें-से बच्चे ने चुपचाप मेरी चिन्ताओं को इतना अधिक पी लिया था कि पैदाइश के दिन से ही वह बीमार-सा था। वह दिन-रात पीड़ा से व्यथित पड़ा रहता था। इस प्रकार एक दिन मैं बैठी हुई थी कि इतने में अचानक मकानवाली आई। उसे हम जाड़े में २५० थेलर दे चुके थे और अब यह करार हुआ था कि भविष्य में हम लोग किराया मकान-मालिक को दिया करेंगे। उसने इस इकरार से इन्कार कर दिया और पांच पौण्ड जो किराये के थे, मांगने लगी। चूंकि हम लोग उसी समय किराया न दे सके, इसलिए दो कान्स्टेबिल घुस आये। उन्होंने हमारी बची-खुची चीजों को—चारपाई, कपड़े, बिछौने, यहां तक कि मेरे छोटे बच्चे का पालना और मेरी दोनों लड़कियों के, जो पास खड़ी हुई फूट-फूटकर रो रही थीं, खिलौने तक—कुर्क कर लिया। उन्होंने यह भी धमकी दी कि दो घंटे के भीतर वे प्रत्येक वस्तु उठा ले जायेंगे। मैं कठोर भूमि पर अपने सर्दी से गलते हुए बच्चों को लिए पड़ी थी।...दूसरे दिन हमें घर से निकलना पड़ा। पानी बरस रहा था, ठंड पड़ रही थी और चारों ओर मनहूसी छाई थी। मेरे पति सबेरे से ही कमरों की तलाश में गये थे; परन्तु चार बच्चों की बात सुनकर कोई भी हमें रखने को राजी न होता था। अन्त में एक मित्र ने मदद की। दवाखाने वाले, रोटी वाले, माँस वाले और दूध वाले का दाम चुकाने के लिए मैंने अपने बिस्तर बेच डाले। मकान वाली के काण्ड से यह सब डर गये थे और सबने फौरन ही अपने-अपने बिल पेश कर दिये थे। बिछौने फुट-पाथ पर लाकर एक गाड़ी पर लाद दिये गए। हम लोगों के पास जो कुछ था, उसे बेचकर हम लोगों ने पाई-पाई चुका दी।"

इस भयंकर गरीबी की हालत में इस दम्पत्ति के कई बच्चे पैदा हुए। मार्क्स प्रेमी पिता थे। वे कहा करते थे—"माता-पिता बच्चों का

पालन-पोषण थोड़ा ही करते हैं, बल्कि बच्चे माता-पिता का पालन-पोषण करते हैं।" अपने प्यारे बच्चों को वे बड़े प्रेम से पालते थे। हरएक बच्चे का उन्होंने प्रेम का नाम रख छोड़ा था। अत्यन्त संकट-मय स्थिति में भी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी थी; पर गरीबी के कारण जिस मोहल्ले में उन्हें रहना पड़ता था, वह अत्यन्त गन्दा था और उसकी आबहवा इतनी खराब थी कि बच्चे हमेशा बीमार ही रहा करते थे। इन बच्चों की भूखी मां कहां तक अपना दूध पिलाती ? बेचारे एक-एक करके इस दुःखमय संसार से चलने लगे। इस प्रकार आधे बच्चे अपने माता-पिता को रुलाकर चल बसे। मार्क्स के जीवन-चरित-लेखक मि० जे० स्पारगो ने लिखा है—"मार्क्स का चौथा बच्चा हेनरी, जो लन्दन में उत्पन्न हुआ था, जन्म से ही दरिद्रता के क्रूर दैत्य के श्राप का भाजन था और उसे छोटी अवस्था में ही मृत्यु बदी थी, जो सहस्रों ही बच्चों के भाग्य में लिखी रहती है। यह पहला ही अवसर था, जब मृत्यु ने मार्क्स के क्षुद्र घर में प्रवेश किया था। माता-पिता को यह चोट और भी गहरी लगी, क्योंकि वे जानते थे कि उनके नन्हें बच्चे की, जिसने क्षुधा-पीड़ित माता के स्तनों का रक्त पिया था, वास्तव में दरिद्रता ने हत्या की थी।"

इसके बाद सन् १८५२ की वसन्त ऋतु में इस दुखी दम्पति की छोटी कन्या फ्रान्सिस्का की मृत्यु हो गई। जयिनी की डायरी में उस समय की भयंकर दरिद्रता का इस प्रकार उल्लेख है :

"इसी वर्ष ईस्टर—सन् १८५२—में हमारी बेचारी छोटी फ्रान्सिस्का कंठनाली के भयंकर प्रदाह से चल बसी ! तीन दिन तक बेचारी मृत्यु से संघर्ष करती रही। उसका छोटा मृत शरीर पीछे के छोटे कमरे में पड़ा था। हम सब आगे के कमरे में चले आये। रात में हम लोग उसी कमरे के फर्श पर सोये। मेरी तीनों जीवित सन्तानें मेरे पास लेटीं।

"...हमारी बच्ची की मृत्यु उस समय हुई, जब हमारी दरिद्रता का सबसे बुरा समय था। हमारे जर्मन मित्र हमारी सहायता नहीं कर सके।...अन्त में आत्म-वेदना से त्रसित होकर मैं एक फ्रेंच निर्वासित

के पास गई, जो समीप ही रहता था और कभी-कभी हमारे यहां आता था। मैंने उससे अपनी दारुण आवश्यकता बतलाई। उसने तुरन्त ही बड़ी मित्रतापूर्ण सहानुभूति से मुझे दो पौण्ड दिये। इसीसे हमने अपनी प्यारी बच्ची के कफन (ताबूत) के दाम चुकाये, जिसमें वह शांतिपूर्वक सुला दी गई।"

इसके बाद जयिनी का आठ वर्ष का इकलौता बेटा एडगर, जिसे मार्क्स प्रेम के नाम से 'मश' कहकर पुकारा करते थे, मन्द ज्वर से चल बसा! इस भयंकर वज्रपात को मार्क्स भी, जो स्वभावतः बड़े धैर्यशाली थे, सहन नहीं कर सके। मार्क्स कभी किसी के सामने अपना दुखड़ा नहीं रोते थे; पर पुत्र-शोक ने उनको भी विचलित कर दिया। उन्होंने उसकी मृत्यु तीन महीने के बाद अपने एक मित्र को लिखा था :

"बेकन ने लिखा है कि जो आदमी वास्तव में सुयोग्य होते हैं, उनके प्रकृति तथा संसार से इतने अधिक सम्बन्ध होते हैं और उनकी रुचि इतनी अधिक वस्तुओं में होती है कि किसी भी क्षति या हानि को वे आसानी से सहन कर लेते हैं; पर मैं तो उन सुयोग्य व्यक्तियों में से नहीं हूं। लड़के की मृत्यु ने मेरे हृदय तथा मस्तिष्क को बिल्कुल ही चकनाचूर कर दिया है और आज भी वह क्षति मेरे लिए उतनी ही ताजी है, जितनी कि पहले दिन थी। मेरी स्त्री का भी स्वास्थ्य बिल्कुल नष्ट हो गया है।"

इस दुर्घटना ने जयिनी को तो बिल्कुल पागल-सा ही बना दिया था। बहुत वर्षों बाद तक उसकी हूक उनके कलेजे में व्याप्त रही। इस वज्रपात से बीस वर्ष बाद के एक पत्र में जयिनी ने बड़े ही करुणाजनक ढंग से लिखा था—"मैं इस बातको खूब अच्छी तरह जानती हूं कि इस प्रकार के भयंकर वज्रपातों को सहन करना कितना कठिन है और फिर इनके बाद अपने मस्तिष्क को ठीक-ठिकाने लाने में कितनी देर लग जाती है! उस समय जीवन की छोटी-छोटी प्रसन्नताओं, बड़ी-बड़ी फिक्रों, नित्यप्रति के घरेलू काम-धंधों और दैनिक झंझटों से पीड़ित

व्यक्ति को बड़ी मदद मिलती है। तत्कालीन छोटे-छोटे कष्टों की वजह से वह महान दुःख थोड़ी देर के लिए सो जाता है और बिना हमारे पहचाने उसकी पीड़ा दिनोंदिन मन्दतर होती जाती है। यह तो मैं नहीं कहूंगी कि घाव भर जाता है। घाव तो कभी नहीं भरता—खास तौर से मां के हृदय का घाव तो कभी नहीं पूरता; लेकिन क्रमशः हृदय में एक प्रकार की नवीन ग्रहणशक्ति उत्पन्न होने लगती है, नवीन कष्टों और नवीन प्रसन्नताओं के स्वागत के लिए एक भावना-सी पैदा होने लगती है। इस प्रकार उस पीड़ित व्यक्ति के दिन-पर-दिन बीतते जाते हैं। उसका हृदय घायल तो रहता ही है; पर उसमें नवीन आशाओं का संचार निरन्तर होता रहता है। अन्त में सारा मामला शान्त हो जाता है और अनन्त शान्ति मिल जाती है।"

संसार के निर्धन पीड़ित व्यक्तियों को जयिनी के उपर्युक्त वाक्यों से अवश्य ही बड़ी सान्त्वना मिल सकती है।

जयिनी का जीवन-चरित किसी उपन्यास से कम मनोरंजक और हृदयवेधक नहीं है। उसका जन्म एक बड़े साधन-सम्पन्न परिवार में हुआ था। उसका पिता प्रशिया में एक अत्यन्त उच्च पद पर था। वह मार्क्स की बड़ी बहन सोफी के साथ एक स्कूल में पढ़ती थी, इसलिए कभी-कभी सोफी के पास घर आया करती थी। बस, यहीं से प्रेम का अंकुर उगना शुरू हुआ। जयिनी की उम्र बाईस वर्ष की थी, जबकि कार्ल मार्क्स कुल अठारह वर्ष के ही थे। कुछ दिनों तक तो यह प्रेम छिपा रहा और लोग यही समझते रहे कि जयिनी अपनी सहेली सोफी के पास योंही आती-जाती है; पर प्रेम की आंखें कबतक छिपाये छिप सकती हैं? मार्क्स के माता-पिताको इस बातका पता लग गया; लेकिन जयिनी को इतनी हिम्मत न हुई कि वह अपने माता-पिता से इस बात का जिक्र करती। इसके बाद कार्ल मार्क्स को बर्लिन जाना पड़ा। बहन सोफी ने इस अवसर पर दूती का काम किया। कार्ल मार्क्स की चिट्ठी जयिनी के पास पहुंचाना उसीका काम था। और तो और, कार्ल मार्क्स के पिता भी, जो अपने पुत्र को अत्यन्त प्रेम करते

थे, इस मामले में काफी दिलचस्पी लेने लगे थे। उन्होंने अपनी एक चिट्ठी में मार्क्स को लिखा था——

"मेरे प्रिय कार्ल, तुम यह बात जानते हो कि कभी-कभी मैं ऐसे मामलों में फंस जाता हूं, जो मुझे इस उम्र में शोभा नहीं देते और जिनके कारण मुझे बड़ी परेशानी उठानी पड़ती है। तुम्हारी ज...ने मुझपर असीम विश्वास करना प्रारम्भ कर दिया है और अपने दिल की प्रत्येक बात वह मुझसे कह देती है। प्यारी भोली-भाली लड़की सदा इस चिन्ता में त्रस्त रहती है कि कहीं उसकी वजह से तुम्हारे भावी कार्य में बाधा न पड़े और कहीं तुम सामर्थ्य से अधिक परिश्रम न करने लगो। उसे सबसे बड़ी फिक्र इस बात की लगी रहती है कि उसके माता-पिता इस बारे में कुछ भी नहीं जानते; बल्कि मैं तो यह कहूंगा कि वे इस बारे में कुछ भी जानना नहीं चाहते। यह बात खुद जयिनी के समझ में नहीं आती कि वह, जो अपने को बड़ी सुलझी हुई और समझदार लड़की समझती है, इस प्रेमपाश में बंध कैसे गई?"

अब यह मुश्किल सवाल सामने था कि जयिनी के माता-पिता को इस घटना की सूचना कौन दे? इस बातको जयिनी जानती थी कि जब मेरे माता-पिता सुनेंगे कि मैंने गरीब घर के एक लड़के से, जो मुझसे उम्र में भी चार बर्ष छोटा है, प्रेम कर लिया है, तो उनके दिल को बड़ा धक्का लगेगा। कहां प्रशिया के एक उच्च पदाधिकारी की लड़की और कहां एक साधारण यहूदी वकील का लड़का!

आखिर कार्ल ने यह सोचा कि मैं ही इस कार्यको करूंगा। यह निश्चित हुआ कि वह बर्लिन से पत्र द्वारा अपने भावी ससुर को इस बात की सूचना दे। जयिनी डर के मारे थरथर कांपती थी कि न जाने उसके माता-पिता इस घटना से कितने पीड़ित होंगे, इसलिए उसने यह अनुरोध किया कि चिट्ठी डाक में डालने से आठ दिन पहले मुझे खबर मिल जानी चाहिए, ताकि मैं उस अग्नि-परीक्षा के लिए तैयार हो जाऊं! दुर्भाग्य से कार्ल मार्क्स का वह पत्र सुरक्षित नहीं रहा और न हमें इस बात का पता लगता है कि आखिर सास-ससुर ने उस पत्र का

किस प्रकार स्वागत किया; पर प्रतीत होता है कि सास-ससुर ने होनहार प्रबल समझकर इस प्रस्ताव को सहन कर लिया।

हृदय-क्षेत्र में प्रेमके इस प्रवेश ने कार्ल मार्क्स के नीरस हृदय में कवित्व का संचार कर दिया! पाठकों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि साम्यवाद के आचार्य कार्ल मार्क्स की प्रथम रचना शिक्षित जनता के सम्मुख कविता के रूप में आई! आगे चलकर श्रीमती जयिनी बड़े अभिमान से अपने यहां आनेवालों से कहा करती थीं—"कभी वह भी जमाना था, मेरे ये दार्शनिक और अर्थशास्त्री पति मेरे प्रेम के कारण कवि बन गये थे।"

१२ जून सन् १८४३ को, जबकि उनकी सगाई हुए छः-सात वर्ष हो गये थे, मार्क्स ने जयिनी का पाणिग्रहण किया। २ दिसम्बर सन् १८८१ को सती-साध्वी जयिनी ने इस लोक से प्रयाण किया। इस तरह पूरे ३८ वर्ष, यह जोड़ी संसार के हित के लिए अनन्त दुःख सहती रही।

विवाह के बाद मार्क्स भोग-विलास में नहीं पड़ गये; बल्कि उसके बाद के तीन महीनों में मार्क्स ने राजनैतिक, आर्थिक तथा विधान-सम्बन्धी इतिहास के एक सौ ग्रंथ पढ़े और तीन लम्बी-लम्बी कापियों में उनके नोट लिये।

विवाह के १८ वर्ष बाद जयिनीने अपनी एक सहेली श्रीमती वेडमेयर को ११ मार्च सन् १८६१ के पत्र में लिखा था—

"यहां हमारे जीवन के आरम्भिक वर्ष बड़े कटु थे; परन्तु आज मैं उन दुःखदायिनी स्मृतियों पर, अपने कष्टों और दुःखों पर अथवा अपने प्यारे स्वर्गीय बच्चों पर—जिनके चित्र हमारे हृदय में गहरे शोक से अंकित हैं—कुछ नहीं लिखना चाहती।...फिर पहला अमरीकन संकट आया और हमारी आय ('न्यूयार्क ट्रिब्यून' से) काटकर आधी कर दी गई। एक बार फिर हमें अपने पारिवारिक व्यय को संकुचित करना पड़ा और हमपर कर्ज भी हो गया।...अब मैं अपने जीवन के सबसे उज्ज्वल अंश पर आती हूं। जो हमारे अस्तित्व में प्रकाश और प्रसन्नता की एकमात्र

किरण थी--वह थीं हमारी लड़कियां। हमारी लड़कियां अपने स्वार्थ-हीन और मधुर स्वभाव से हमें सदा आनन्दित किया करती हैं; परन्तु उनकी छोटी बहन तो घर-भरके लिए प्रेम की मूरत हो रही है।...मुझे बड़ा भयंकर बुखार आया और डाक्टर बुलाना पड़ा। २० नवम्बर को डाक्टर आया, उसने मुझे अच्छी तरह देखा और बड़ी देर तक चुप रहने के बाद बोला--'श्रीमती मार्क्स ! मुझे अफसोस से कहना पड़ता है कि आपको चेचक निकली है--बच्चों को फौरन घरसे हटा दीजिए।' उसके इस फैसले पर घर भर को कैसा दुःख हुआ और हम कैसी मुसीबत में पड़े, इसकी तुम कल्पना कर सकती हो !...मैं मुश्किल से चारपाई छोड़ने के योग्य हुई थी कि इतने में हमारे प्यारे कार्ल बीमार पड़ गये। सब तरह की चिन्ताओं, फिक्रों और अत्यधिक आशंकाओं ने उन्हें शय्याशायी कर दिया; परन्तु ईश्वर को धन्यवाद है कि चार सप्ताह की बीमारी के बाद वे अच्छे हो गये। इस बीच में फिर 'ट्रिब्यून' ने हमारा वेतन आधा कर दिया था।...मेरी प्यारी सखी, तुम्हें मेरा प्रेमपूर्ण अभिवादन है। ईश्वर करे, परीक्षा के इन दिनों में तुम वीर बनी रहो। संसार साहसी व्यक्तियों का है। बराबर अपने पति को दृढता और हृदय से सहायता देती रहो तथा शरीर और मनको सदा सहिष्णु बनाये रखो।...तुम्हारी हार्दिक मित्र--जेनी मार्क्स !"

आर्थिक दुर्दशा की हद हो गई थी। शनिवार का दिन था। घर में एक पैसा भी न था, न किसी मित्र से कुछ उधार मिला और न किसी दुकानदार ने सामान उधार दिया। कल इतवार को सवेरे खाना कैसे बनेगा, इसकी फिक्र थी। आखिर जयिनी ने कहा--"और तो कुछ है नहीं, मेरे मायके के ये ठोस चांदी के चम्मच हैं, इन्हें कहीं गिरवी रख-के कुछ दाम लाओ।" कार्ल मार्क्स उन्हें ही लेकर दुकानदार के पास पहुंचे। दुकानदार ने देखा कि उन चांदी के चम्मचों के ऊपर अर्जिल के ड्यूक का राजचिन्ह है। उसे शक हुआ और उसने सोचा कि हो न हो, इस विदेशी भिखमंगे ने इस चीज़ को कहीं से चुराया है। चोरी का माल समझकर उसने पुलिस के सिपाही को बुलाया। मार्क्स ने

बहुत समझाया-बुझाया कि इन्हें मेरी मेरी पत्नी अपने मायके से लाई है; पर उनकी कौन सुनता ? पुलिसवाला कार्ल मार्क्स को पकड़ कर थाने पर ले गया। वहां उन्हें जाकर हवालात में बन्द कर दिया और कह दिया कि जबतक जांच न हो जाय, तबतक यहीं बैठो। सोमवार को सवेरे जाकर पता लगा कि ये महाशय कौन हैं और तब वे छोड़ दिये गए।

संकट के दिन आये और एक के बाद दूसरी अपतियां आईं। जयिनी कभी-कभी बड़ी निराश हो जाती थीं। मार्क्स ने अपने एक पत्र लिखा था—

"मेरी स्त्री मुझसे प्रतिदिन यही कहा करती है कि 'इस दुर्दशा से यही अच्छा होता कि मैं अपने बच्चों के साथ कब्र में चली गई होती।' पर मैं अपनी पत्नी को दोष नहीं देता, क्योंकि जैसी अपमान-जनक स्थिति में हमें रहना पड़ता है, जो अत्याचार और कष्ट हमें सहने पड़ते हैं, जिस प्रकार पग-पग पर हमें जलील होना पड़ता है, उसका बयान नहीं किया जा सकता।"

कार्ल मार्क्स ने अपने किसी किसी पत्र में जयिनी के चिड़चिड़े स्वभाव की आलोचना की है; पर अनुमान तो कीजिए उस बेचारी पत्नी का, जिसका पति नित्यप्रति बारह-बारह घण्टे पुस्तकालय में बिताता हो, जो अपने बच्चों को सूखी रोटी खिलाने में असमर्थ हो और जो घर के लिए नोन-तेल-लकड़ी की फिक्र छोड़कर भावी संसार के प्रश्नों पर दार्शनिक विचार करने में मग्न हो ! भला, इस विकट परिस्थिति में किस पाठक-पाठिका की सहानुभूति जयिनी के साथ न होगी ?

यह बात ध्यान देने-योग्य है कि जयिनी अपने पति मार्क्स से उम्र में चार वर्ष बड़ी थी, इसलिए बुढ़ापा उसपर और भी जल्दी आ गया था। छः बच्चे उसके हो चुके थे और ग़रीबी तथा बच्चों की मृत्यु ने उसके शरीर को अत्यन्त निर्बल और मस्तिष्क की स्नायुओं को और भी कमज़ोर कर दिया था। सबसे बड़ी चिन्ता जयिनी को अपनी

लड़कियों की रहती थी। ये लड़कियां पढ़ने-लिखने में बड़ी तेज थीं और क्लास में सदा अव्वल रहा करती थीं। जयिनी एक काम करती थी, वह यह कि पति की थोड़ी-सी आमदानी में से लड़कियों की फीस पहले निकाल लेती थी। उसे सबसे बड़ी फिक्र इस बात की थी कि कहीं घर की निर्धनता के कारण मेरी लड़कियों को स्कूल में ज़लील न होना पड़े; पर निर्धन माता-पिता की इन पुत्रियों को अपनी सखी-सहेलियों के सामने आत्म-सम्मान की रक्षा करना अत्यन्त कठिन हो रहा था। माता और पुत्रियों में कभी-कभी झगड़ा हो जाया करता था। ऐसे मौक़ों पर मार्क्स पुत्रियों का पक्ष लेते थे। मार्क्स को उस समय बड़ा दुःख हुआ था, जब उनकी लड़की को मजबूर होकर एक अंग्रेज़ कुटुम्ब में दिन-भर बच्चों की देख-भाल करने और पढ़ाने की नौकरी करनी पड़ी थी। कार्ल मार्क्स ने उन दिनों अपने एक मित्र को लिखा था—"मेरी स्त्री इतने चिड़चिड़े स्वभाव की हो गई है कि हमेशा बच्चों को लिये-दिये रहती है। मुझे लड़की की नौकरी करना निहायत नापसन्द आया; पर वह बेचारी मां के व्यंगों से तो बची रहेगी।"

यद्यपि मार्क्स अपनी पत्नी के इस चिड़चिड़े स्वभाव से, जिसके लिए वे कम ज़िम्मेवार न थे, कभी-कभी तंग आ जाते थे; पर हृदय से उसके प्रति श्रद्धा रखते थे। एक पत्र में उन्होंने जयिनी को लिखा था—

"प्रियतमे,

तुम्हारी चिट्ठी से मुझे बड़ी खुशी हुई। मुझसे हृदय की सब बात खोलकर कहने में तुम्हें कभी संकोच नहीं करना चाहिए। प्रियतमे, जब तुम्हें कठोर वास्तविकता का इतना अधिक सामना करना पड़ता है तो कम-से-कम इतना फर्ज मेरा भी है कि तुम्हारे कष्टों को मैं अपने हृदय से अनुभव तो करूं। मैं इस बात को खूब अच्छी तरह जानता हूं कि तुम्हारी सहनशक्ति असीम है और छोटी-से-छोटी अच्छी खबर से तुममें फिर जान आ जाती है। मुझे आशा है कि तुम्हें इस सप्ताह फिर पांच पौण्ड भेज सकूंगा। इस सप्ताह नहीं तो सोमवार तक ज़रूर भेज सकूंगा।"

निस्सन्देह जयिनी में अनन्त सहनशीलता थी ।

अपने संकट के दिन कितने धैर्य के साथ इस दम्पति ने काटे, उसका विस्तृत वृत्तान्त लिखने के लिए यहां स्थान नहीं । जब कभी वे थोड़ा भी निश्चिन्त होते तो एक-दूसरे का हाथ पकड़कर कमरे में इधर-उधर टहलते और जर्मन भाषा के प्रेम के गीत गाया करते थे—ठीक उसी प्रकार, जैसे वे अपने देश में, यौवन के आरम्भ में, ग्रीष्म ऋतु में, पुष्पों से लदे वृक्षों के नीचे, गाया करते थे।

भोजन-वस्त्र के अभाव में इस प्रकार प्रसन्न रहना अत्यन्त कठिन काम था। एक बार कार्लमार्क्स के किसी मित्र ने जयिनी तथा उसकी दो लड़कियों के लिए सुन्दर कपड़े भेज दिये थे। उनको धन्यवाद देते हुए जयिनी ने लिखा था, "आपको यह सुनकर हर्ष होगा कि लड़कियां आपकी भेजी हुई पोशाक को पहनकर बड़ी मनोहर लगती हैं। इन कपड़ों में उनके चेहरे कैसे मधुर, कैसे हास्यमय लगते हैं और कैसी ताज़गी उनसे टपकती है ! आपने जो मेरे लिए कपड़े भेजे हैं, उन्हें पहनकर में भी बड़ी शानदार जंचती हूं। जब मैं उन्हें पहन कर अभिमान के साथ अपने कमरे में टहलने लगी तो छोटी बच्ची ने पीछे से चिल्लाकर कहा—'अम्मा-अम्मा, मोर-जैसी अम्मा !' अगर आज भयंकर सर्दी न होती तो मैं तुम्हारे भेजे हुए इन्हीं वस्त्रों को पहनकर बाहर निकलती, जिससे पास-पड़ोस के अभिमानी आदमियों पर कुछ रोब तो गंठता।"

जयिनी का शरीर अत्यन्त जीर्ण हो चुका था। सन् १८८१ में जयिनी अपने पति के साथ पेरिस गई और अपनी दोनों लड़कियों से, जो विवाह के बाद पेरिस में बस गई थीं, जाकर मिली। पेरिस से लौटकर मार्क्स अत्यन्त बीमार हो गये। जयिनी तो पहले से ही अत्यन्त निर्बल थी। ऐसा प्रतीत हुआ कि वे दोनों साथ-ही-साथ इस संसार से कूच करेंगे; पर कार्ल मार्क्स की तबीयत कुछ सुधर गई और जयिनी की मृत्यु के समय वे उपस्थित थे। जब जयिनी बिल्कुल मरणा-सन्न थी, कुछ घंटे ही मरने में बाक़ी थे, तब Modern Thought'

(आधुनिक विचार) नामक पत्र से किसी व्यक्ति का लेख जो मार्क्स की प्रशंसा में लिखा गया था उसे सुनाया गया। विलायत में यह पहला ही लेख था, जो मार्क्स की तारीफ में लिखा गया था। पतिव्रता जयिनी ने इस लेख को सुनकर सन्तोष की एक सांस ली।

२ दिसम्बर को जयिनी स्वर्ग सिधारीं। मार्क्स इसके बाद पंद्रह महीने और जीवित रहे और अपनी पत्नी को बारबार याद करते रहे। वे कहते थ—"जयिनी मेरे जीवन की सर्वोत्तम भाग की सहधर्मिणी थी।" १४ मार्च १८८३ को कार्ल मार्क्स का देहान्त हुआ और दोनों की समाधि एक ही स्थल पर है।

लाला हरदयाल का यह कथन वास्तव में सत्य है कि युगयुगान्तर तक इस दम्पति—जयिनी-मार्क्स—की कष्ट-गाथा साधारण जनता को प्रोत्साहित करती रहेगी और भविष्य के बन्धनमुक्त मज़दूरों के लिए वह बाइबिल का काम देगी।

: २ :

सरोज नलिनी दत्त

सत्यवती मल्लिक

"अपने जीवन में सरोज नलिनी दत्त ने न तो घर को समाज की ख़ातिर और न ही समाज को घर के लिये बलिदान किया। दोनों में उचित संतुलन बनाये रखना ही उनके जीवन की महत्वपूर्ण विशेषता थी।"

—**रवीन्द्रनाथ ठाकुर**

"सरोज नलिनी के जीवन की सर्वोत्तम महत्ता इन कारणों से है: उन्होंने बंगाल की स्त्रियों के जीवन में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव कर, सामाजिक क्रान्ति के कार्यों को करते हुए भी प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों को नहीं भुलाया, जिनका सौन्दर्य निराला है। न तो उन्होंने उन साधारण प्रचलित रीति-रिवाजों को, जो उनकी देशवासिनी बहनों को परम्परा से पसन्द है, एक तरफ ही छोड़ दिया और न अपने आधुनिकवाद से व्यर्थ में लोगों के हृदय को ही दुखाया।"

—**सी. एफ़. ऐंड्रयूज़**

सरोज नलिनी दत्त का जन्म बंगाल के सुप्रसिद्ध श्री ब्रजेन्द्रनाथ देव, आई० सी० एस० के यहां ९ अक्तूबर १८८७ को हुआ। माता-पिता की वे चौथी सन्तान थीं। इनका बाल्यकाल एक प्राचीन ढंग के संयुक्त परिवार में गंगा के तीर, घने वृक्षों से आच्छादित सुन्दर भवन में व्यतीत हुआ। सरोज नलिनी दत्त अपने मृदु स्वभाव के कारण

माता-पिता की विशेष स्नेहपात्र थीं। इनके विषय में एक ज्योतिषी ने कहा था कि यह बालिका जिसे स्पर्श करेगी वह स्वर्ण में परिणत हो जायगा।

मातृभाषा बंगला तथा अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं की विदुषी होते हुए भी सरोज नलिनी ने किसी स्कूल में शिक्षा नहीं पाई और न किसी विश्वविद्यालय की परीक्षा ही दी। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा प्रायः घर पर ही अध्यापकों एवं महिला गवर्नेस के द्वारा भाई-बहनों के साथ हुई। अपनी महिमामयी सर्वगुण-सम्पन्न माता और विशेषतया विधवा वृद्धा दादी के उज्ज्वल चरित्र ने ही बालिका सरोज नलिनी के मन पर प्रभाव डाला। दूसरी ओर घर में अनेक देशी एवं विदेशी ढंग से उच्च शिक्षा-प्राप्त पिता के मित्रों का आना-जाना तथा ६ वर्ष की आयु में ही कुछ मास पिता के साथ यूरोप हो आना इनकी प्रारम्भिक शिक्षा में बहुत सहायक हुआ।

अपने पिता से इन्होंने बगीचा लगाने की विशेष शिक्षा प्राप्त की। जब वे मां के साथ रसोई आदि में सहायता न कर रही होतीं तो बगीचे में ढंग से सब्जी लगाने और भांति-भांति के फूलों को सजाने व बोने की कला सीखने में अथवा संगीत की नई-नई तर्जें बनाने में व्यस्त रहतीं।

उनके भावी पति श्री जे० एस० दत्त, आई. सी. एस. ने इस होनहार कन्या को १९०६ में देखा, जो अपनी मां-बहनों आदि सभी से अधिक आकर्षक थी। इसी वर्ष उन दोनों का विवाह हो गया और दो वर्ष बाद उनके एक पुत्र भी हुआ।

वैवाहिक जीवन में किस खूबी से पुरातन आदर्शों एवं भारतीय विचारों में पत्नी सरोज नलिनी ने यूरोप की आधुनिक शिक्षा-प्राप्त पति के अनुसार अपने जीवन को ढाल लिया, कैसी निपुणता से पति को भारतीय संस्कृति की ओर आर्कषित किया और कैसे वे अपनी शिक्षा का उत्तरोत्तर विकास करती गईं इसका श्री दत्त ने अपनी पत्नी के प्रति स्मृति-ग्रन्थ 'एक भारतीय महिला' में मधुर ढंग से उल्लेख किया है :

"सरोज मेरे प्रत्येक कार्य में उत्सुकतापूर्वक भाग लेती थीं, दौरे आदि के लिए जहां मैं जाता, साथ जाती थीं। प्रत्येक घरेलू अथवा बाह्य खेल को तुरन्त समझ लेती थीं। टेनिस में तो उन दिनों अंग्रेज स्त्रियां तक उनका मुकाबला नहीं कर सकती थीं। घुड़सवारी को भी विवाह के बाद उन्होने भली-भांति सीखा। प्रायः वे मेरे साथ चाहे नेपाल की तराई में हाथी की पीठ पर हो अथवा सुन्दर वन के घने जंगलों में, पैदल ही शिकार खेलने जातीं।...

"यही नहीं, वे मेरे दफ़्तर तथा अन्य सरकारी कार्यों से भी परिचित रहतीं। कभी कोई विशेष बात छिपाने पर मुझसे नाराज होतीं और प्राइवेट सेक्रेटरी की तरह प्रत्येक कार्य में सहायता देने के लिए उन्होंने टाइप-राइटिंग भी सीखा। किस प्रकार मुस्कराते-हंसते उनकी यह सहायता मेरी थकान को हल्का और नवीन उत्साह से भर देती थी, वह वर्णनातीत है !

"नव यौवन में विलायत में शिक्षा पाने और शीघ्र ही इंडियन सिविल सर्विस में उच्च पद पर नियुक्त हो जाने के कारण प्रारम्भ में मुझपर पाश्चात्य सभ्यता का गहरा रंग था। पुनः स्थान-स्थान पर अधिक सम्मान एवं महत्व मिलने से मैं अभिमानी और भारतीय आदर्शों से नितान्त कट-सा गया था; किन्तु इसके विपरीत सरोज नलिनी सीधी-सादी, भारतीय नारी की नम्रता, विनय-शीलता आदि गुणों से ओत-प्रोत थीं। यद्यपि स्पष्ट रीति से उन्होंने न केवल मेरा विरोध नहीं किया और स्वेच्छा से उसी ढंग पर चलने दिया; बल्कि मेरी इच्छा से घर में पाश्चात्य नृत्य, बाल संवारने के ढंग और सदा अंग्रेजी में बातचीत करने के नियम को भी स्थान दिया; किन्तु साथ ही शनैःशनैः जाने कैसे उन्होंने चुपचाप मेरे मन में यह बात बिठा दी कि ऐसा ढंग किसी प्रकार भी हम भारतीयों को स्वाभाविक एवं अनुकूल नहीं। उनके इस दृढ़ चारित्रिक प्रभाव ने मुझे पुनः भारतीय और बंगाली बना दिया।

"वे सुगृहणी थीं। खाना बनाने, सिलाई, बगीचा लगाने आदि में अत्यन्त पटु थीं। हमारे अनेक यूरोपियन तथा भारतीय मित्रों के

आने पर वे स्वयं ही भांति-भांति के अंग्रेजी व देशी खाने बनातीं और पूर्ण आतिथ्य करतीं। मातृभाषा बंगला के अतिरिक्त अंग्रेजी की वे विदुषी थीं। अपने सुपुत्र को प्रारम्भिक शिक्षा उन्होंने स्वयं ही दी। तो भी वह ज्ञान-वृद्धि के सम्बन्ध में सदैव श्रद्धा-पूर्ण शिष्य की भांति अतीव उत्सुकता से मेरे समीप बैठ सीखा करतीं, इसीसे बहुधा मुझे गुरुदेव कहकर सम्बोधन करतीं; किन्तु चारित्रिक विषय में मैं सदैव उन्हें गुरु मानता आया हूं। संगीत में विदेशी एवं भारतीय दोनों प्रकार के वाद्य अर्थात् इसराज, सितार, बेला और पियानो तो बहुत ही अच्छा बजाती थीं। उनका कंठ-स्वर इतना मधुर था कि जब वे प्रायः शान्तिनिकेतन जाकर गातीं तो कवीन्द्र रवीन्द्रठाकुर सुना करते थे और उनके संगीत की प्रशंसा करते थे।"

एक जगह श्रीदत्त ने लिखा है--"एक बार वे मेरे गांव (कलकत्ते से कई सौ मील दूर सिलहट के समीप) गईं। वे चाहती थीं कि जहां मेरा बाल्यकाल बीता है उस जगह को देखें और मेरे सम्बन्धियों से मिलें। मैं स्वयं भी विलायत से लौटने के बाद वर्षों तक घर नहीं जा सका था और न मुझे विश्वास ही था कि मेरे पुराने ग्रामीण सम्बन्धी, जिन तक अभी आधुनिक रीति-रिवाज नहीं पहुंचे हैं, हम लोगों का स्वागत करेंगे। उनका पूर्ण विश्वास था कि बहू मेम होगी। उन दिनों 'मेम' शब्द केवल यूरोपियन स्त्री के लिए ही नहीं, प्रत्युत किसी भी आधुनिक शिक्षा-प्राप्त भारतीय स्त्री के लिए प्रयुक्त किया जाता था। उनकी धारणा थी कि वे मोज़े पहनती, नाचती, सवारी करती और केवल उपन्यास पढ़ती हैं। बच्चों को धाय पर छोड़ देती हैं, स्वयं दूध नहीं पिलातीं। अपने पति तथा बड़ों का आदर एवं चरण-स्पर्श नहीं करतीं, जो भारतीय नारी के चरित्र को नष्ट करनेवाली बातें हैं।

"अतः जब हमारे आने की सूचना गांववालों को मिली तो ऐसी 'मेम' बहू के प्रति कौतूहल होना स्वाभाविक था। कई बन्धुओं ने तो पीछे बतलाया कि उन्हें यह सोचकर काफी परेशानी हुई कि जाने कैसे व्यवहार के लिए तैयार होना पड़ेगा! किन्तु जब सरोज नलिनी नंगे पैर

नाव में से उतरी और मेरे बहनोई की लाई हुई पालकी में चुपचाप बैठ गई, घर पहुंचकर बहनों के कथनानुसार सभी सम्बन्धियों के आगे झुककर चरण-स्पर्श किया और सादे ढंग से साड़ी पहने, माथे में सिंदूर एवं हाथों में शंखचूड़ (सौभाग्य का चिन्ह) धारण किये गांव की स्त्रियों ने उन्हें देखा तो चकित होकर वे बोलीं--'अरे नहीं ! यह तो वास्तव में बहू है, 'मेम-वेम' नहीं। सरोज नलिनी की विनम्रता से मुग्ध होकर गांव की स्त्रियां उनका श्रृंगार करने लगीं ! उनके स्वभाव ने अल्पकाल में ही मानों गाँव की स्त्रियों को प्रभावित कर लिया। वे उनके साथ मिलकर खातीं, उठती-बैठतीं। सरोज नलिनी के उदाहरण ने गांववालों के जीवन में क्रांति ला दी। तुरन्त ही वहां कन्याओं के लिए स्कूल खोला गया और एक शिक्षित हिन्दू विधवा ने उनके अध्यापन-कार्य को हाथ में लिया।"

इस प्रकार बंगाल, बिहार के देहातों और शहरों में घूमते हुए उस प्रतिभाशालिनी नारी ने भारतीय नारी-जीवन को समीप से देखने का अवसर प्राप्त किया। रोग की जड़ कहां है ? उपाय क्या है ? यह उसकी सूक्ष्म दृष्टि से छिपा न रहा। श्रीदत्त जहां भी तब्दील होकर जाते, सरकारी अफसर की हैसियत से उन्हें लोगों से मिलना पड़ता। ऐसे अवसर पर सरोज नलिनी लोगों के घरों में निस्संकोच चली जातीं, स्त्रियों से परिचित होतीं और प्रेम तथा सहानुभूति के आधार पर सच्चे मित्र की भांति उनसे घुल-मिल जातीं, इसीलिए वे अपने देश की वास्तविक समस्याओं को अपने पति की अपेक्षा अधिक समझ सकीं।

'घर के अतिरिक्त एक दिन भी बिना समाज-सेवा के बिताना निष्फल है' यह उन्होंने मूलमंत्र बनाया और जब वे किसी दिन इससे वंचित रहतीं तो संतोष न होता। अविवेकी और स्वार्थी पुरुषों ने स्त्रियों को घर की चहारदीवारी में बन्द कर रखा है, इसीसे उनका दृष्टिकोण सीमित रहता है। वे बाहर की दुनिया से कटकर नितान्त पंगु बन गई हैं, जिसका परिणाम आज समूचे देश को भुगतना पड़ रहा है।

उन्होंने यह भी अनुभव किया कि हजारों अशिक्षित और पर्दे में पड़ी स्त्रियों में पवित्रता, सचाई, सहिष्णुता, कार्य करने की क्षमता आदि बहुमूल्य गुण भरे पड़े हैं; किन्तु जबतक वे अपनी मुक्ति के लिए स्वयं जोर न लगायेंगी तबतक पुरुषों के केवल भाषणों और लेखों से कुछ हो नहीं सकता।

वयस्कों की शिक्षा के बारे में एक स्थान पर श्रीमती दत्त ने लिखा था—"पुरुष राजनैतिक कार्यों में व्यस्त हैं, उन्हें फुरसत नहीं। आओ, हम नारियां जागें और अपने कष्टों के दूर करने के उपाय सोचें। मैं चाहती हूं कि प्रत्येक जिले, कस्बे, गांव और मुहल्ले में एक ऐसा स्थान अवश्य रहे, जहां स्त्रियां आपस में मिल सकें, परस्पर विचार-विनिमय से शिक्षा के ऊंचे आदर्श समझ सकें और निजी समस्याओं को सुलझा सकें। इसे आप समिति कहें या जो भी कुछ।" इन विचारों को कार्य में परिणत करने के लिये उन्होंने अपने पहले स्थानीय टाऊन हाल में हिन्दू-मुसलमान सभी जातियों की पर्दा-नशीन स्त्रियों को एकत्रित करना आरम्भ किया और स्कूलों तथा अस्पतालों में उनके कुछ समूह लेकर इस उद्देश्य से निरीक्षण शुरू किया कि विद्यार्थियों अथवा मरीज़ों की कैसी देख-भाल होती है। फिर जहां-जहां वे गईं, इसी आधार पर स्थायी रूप से महिला-समितियां और नारी संस्थाएं खोलती गईं, जिनका मुख्य उद्देश्य स्त्रियों की आर्थिक और आत्मिक स्वाधीनता प्राप्त कराना था।

सर्वप्रथम 'महिला-समिति' का निर्माण सन् १९१३ में पबना में हुआ था। पर्दानशीन स्त्रियों में मेल-जोल, गृह-कार्यों में नये तरीकों से विशेष दिलचस्पी उत्पन्न करना, शिशु-शिक्षा, गृह-शिल्प, साक्षरता आदि द्वारा विशेषतया ग़रीब और विधवा स्त्रियों को स्वतंत्रता दिलाने में सहायक होना इसका कार्यक्रम था।

दूसरी 'महिला-समिति' का उद्घाटन श्रीमती दत्त द्वारा वीरभूम में गत महायुद्ध के दिनों में सन् १९१६ में हुआ। यह एक अत्यन्त जाग्रत संस्था थी, जिसका व्यापक प्रभाव घर-घर में हुआ। समिति ने स्कूलों में

लड़कियों को गृह-विज्ञान सीखने को उत्साहित करने के लिये पारितोषिक रखे। इसके सदस्य स्कूलों में जाकर निरीक्षण करते, मासिक पत्रिकाएं और समाचार-पत्र वितरण करते, अशिक्षित तथा पर्देवाली महिलाओं के लिये क्लासें खोलते। समिति की और सदस्याएं स्थानीय अस्पतालों में जातीं, निर्धन रोगियों के लिए चन्दा जमा करतीं और युद्ध में गए हुए सिपाहियों के लिए वस्त्र बना कर भेजतीं। आगे चलकर इस संस्था का कार्य खूब चल निकला और यहां की स्त्रियों ने श्रीमती दत्त की स्मृति में 'सरोज नलिनी मिलन-मन्दिर' नाम से एक सुन्दर भवन तैयार करवाया।

इसी प्रकार सन् १९२१ में तीसरी समिति बांकुड़ा में स्थापित हुई, जिसका कार्य उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त प्रसूति-गृह एवं उनके लिये दाइयों की उचित शिक्षा का प्रबन्ध करना था। बांकुड़ा से आने के बाद भी वे समिति के कार्यों से संबंधित रहीं। मंत्रिणी को वे नियमित रूप से पत्र लिखा करतीं और अपनी सम्मति द्वारा सहायता देतीं। एक बार पत्र में उन्होंने लिखा था, "तेरह लड़कियां 'नर्सिंग' की परीक्षा में उत्तीर्ण हुईं, इससे बढ़कर मेरे लिये और क्या प्रसन्नता की बात हो सकती है। ध्यान रखना, गांव में कोई भी व्यक्ति मूढ़ या अशिक्षित दायी को बुलाने न पावे।" ऐसी ही समितियां रामपुरहट, सुलतानपुर आदि में भी बाद में बनाई गईं।

इन सुधार-कार्यों को करने में सरोज नलिनी को अनेक कष्ट और रूढ़िवादी लोगों का विरोध सहना पड़ा। उस समय हमारे देश में महिला-जागृति के पूर्व चिन्ह ही शुरू हुए थे। वे बड़ी चतुर थीं और सभी मामलों को सुलझाने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। उनकी तीव्र बुद्धि ने जान लिया कि भारतीय जीवन में शासन और व्यवस्था का भार पुरुष पर नहीं, प्रत्युत बड़ी-बूढ़ी और घर की प्रौढ़ा स्त्रियों पर निर्भर है। बिना सासों और प्रौढ़ा स्त्रियों के मेल-जोल और शिक्षा के बहू-बेटियों का विकास असम्भव है। अतः पहले तो सासों के लिये ही स्कूल खोलने आवश्यक हैं। इस कार्य में उन्हें बहुत सफलता मिली।

घर-घर घूम-फिर कर सहस्रों पर्दानशीन, अशिक्षित एवं पराधीन जीवनों को अन्धकार से मुक्त करने पर सरोज नलिनी की ख्याति दूर-दूर तक फैली। उन्हें एम० बी० ई० की उपाधि सर्वप्रथम सम्राट् की ओर से मिली। युद्ध में घायलों की सहायता करने के लिये ब्रिटिश रेड-क्रास सोसाइटी की ओर से उन्हें सर्टिफ़िकेट, पदक, आदि प्रदान किये गए; किन्तु उन्हें इन वस्तुओं की कोई चाह नहीं थी और उन्होंने डिग्री, पदक आदि का प्रयोग कभी नहीं किया।

श्रीमती दत्त एक बार जापान और इंग्लैण्ड गईं। वहां वे स्त्रियों द्वारा संचालित संस्थाओं को देखकर बहुत प्रभावित हुईं। तभी उनके मन में महिला-समितियों के केन्द्रीय संगठन का विचार उठा। इधर जो महिला-समितियां वे अपने यहां ज़िलों में बनाती थीं, उनके दूसरी जगह चले जाने के बाद बहुधा कार्य शिथिल पड़ जाता था। अतः भारत में आते ही उन्होंने लिखा :

"जीवन का बड़ा भाग बंगाल के ज़िलों और गांवों में बिताने के कारण मैं अपनी ग्रामीण बहनों के अन्धकारमय जीवन और अनेक कष्टों से पूर्ण परिचित हूं। उन्हें दूर करने की मैंने साधारण चेष्टा भी की है, फिर भी कलकत्ता में एक ऐसी केन्द्रीय संस्था निर्माण करने की अत्यंत आवश्यकता है, जो ज़िलों और क़स्बों की समितियों से सम्बन्ध रखे और उन्हें उचित सहायता दे सके। इस संस्था का नाम 'बंगाल महिला समिति फडरेशन, रखा जाय।"

कैसा अच्छा होता यदि वे अपने स्वप्न पूरे होते देख सकतीं! देहान्त से एक वर्ष पूर्व भी वे कलकत्ते में उसी स्फूर्ति से अनेक सामाजिक कार्यों का बोझ उठाये रहीं। अकस्मात् एक साधारण रोग से ग्रस्त हो कर वे सन् १९२५ में कुल ३७ वर्ष की आयु में इस नश्वर संसार से विदा हो गईं। उनके कार्य को जारी रखने के लिये उसी वर्ष कलकत्ता में 'सरोज नलिनी-स्मृति संस्था' की स्थापना हुई, जो निरन्तर गांवों और शहरों में केन्द्रीय संगठन का कार्य करती रही है। इन संस्थाओं का कार्य आज भी स्त्रियों को दलों में एकत्र करना तथा विचार-विनिमय द्वार

आर्थिक एवं अन्य समस्याओं को सुलझाना है। सारे भारत में चार सौ से अधिक समितियां इस संस्था के अधीन कार्य कर रही हैं। केवल बंगाल में ही नहीं; बल्कि अन्य प्रान्तों, ब्रह्मा और लंका तक में, इसकी शाखाएं फैली हैं। स्वर्गीया श्रीमती दत्त द्वारा आरोपित इस वट-वृक्ष के कार्य का मुख्य विवरण इस प्रकार है : वयस्क जनों की शिक्षा, सामाजिक-सांस्कृतिक सभाएं, शिशु-प्रदर्शनियां, प्रसूतिगृह, नर्सिंग होम, स्कूलों में फिल्मों द्वारा शिक्षा, दैनिक स्वास्थ्य-शिक्षा, ग्राम्य शिल्पों की प्रदर्शनियां, आदि आदि ...।

निस्सन्देह आज भारतवर्ष उन्नति के शिखर पर है। सांस्कृतिक अथवा शासन-सम्बन्धी कौनसा ऐसा विभाग है, जहां महिलाओं के लिये द्वार खुला नहीं ? किन्तु भावी भारत के निर्माण में जिन आदर्श महिलाओं ने अपनी आहुति देकर हमारे कण्टकाकीर्ण मार्ग को प्रशस्त किया, उन्हें हम भुला नहीं सकेंगे।

पूर्व और पश्चिम का अद्‌भुत समन्वय करने वाली श्रीमती सरोज नलिनी दत्त के प्रति हमारा रोम-रोम सदा आभारी रहेगा। नारी-शिक्षा-समिति की अध्यक्ष श्रीमती बोस ने उनके देहावसान पर ठीक ही लिखा था :

"मैं आश्चर्य करती थी कि वे घर और बाहर का इतना कार्य ऐसी सुघड़ता से कैसे निबाह लेती हैं ! देश की इस भारी क्षति और उस दुःख को, जो उनके असामयिक निधन से नारी-आन्दोलन को पहुंचा है, सहन करना कठिन है; किन्तु अपने पीछे वे जो अपनी अनुगामिनियां और प्रशंसनीय कार्य छोड़ गई हैं, उनके द्वारा उनका नाम सदा अमर रहेगा।"

: ४ :

डोरोथी वर्ड्सवर्थ

सत्यवती मल्लिक

"भाई विलियम का विवाह मेरी हचिन्सन से हो गया। बाल्यकाल से ही 'मेरी' को मैं अपनी सगी बहन के तुल्य मानती आई हूं। वह अब भी मेरे लिए उसी भांति आकर्षक है और इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि संसार में 'मेरी' से बढ़कर अन्य कोई भी स्त्री मेरे भाई के लिए उपयुक्त सिद्ध न होती! तो भी न जाने क्यों, कल प्रातः जब उन दोनों को चर्च की ओर जाते देखा और विलियम ने मुझसे विदा ली तो कठिनाई से मैं अपने को संभाल सकी।...'विवाह हो गया। वे आ रहे हैं।' कुछ देर बाद सारा हचिन्सन (मेरी की छोटी बहन) के इन शब्दों ने मुझे उठने के लिए विवश किया। मैं दौड़कर वर-वधू का स्वागत करने आगे बढ़ी और भाई के गले से चिपट गई।"

उपर्युक्त भाव सरल-हृदया डोरोथी ने अपने भाई महाकवि विलियम वर्ड्सवर्थ के विवाह के दिन अपनी अन्यतम सखी को लिखे थे। भाई-बहन का सम्बन्ध वास्तव में स्नेह के अत्यन्त सूक्ष्म तन्तुओं से निर्मित होता है। भाई के विवाह के अवसर पर वैसे तो प्रत्येक स्नेहशील बहन के उल्लसित हृदय में क्षण भर के लिए एक विषादपूर्ण झोंके का उठ आना स्वाभाविक है; किन्तु डोरोथी के लिए यह अवसर अपेक्षाकृत अधिक एवं उदासी-मिश्रित आंसू लाया था। उन आंसुओं में वही गहन पुनीत भाव थे, जो प्रथम बार समुद्र, हिमाच्छादित आल्प्स-शिखर और प्रसिद्ध कवि कोलरिज को देखकर डोरोथी के नेत्रों से झर पड़े

थे। इनका रहस्य उसके अतीत जीवन के पन्ने उलटने पर ज्ञात होता है।

डोरोथी चार भाइयों के बीच एक बहन थी। इनके पिता जॉन वर्ड्सवर्थ गार्समीयर के नामी वकील थे। स्वाभाविक प्रकृति और काम-काज में अधिक उलझे रहने के कारण अपनी सन्तान के साथ वे खुला एवं घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित न कर सके। इसीलिए बच्चों के चरित्र-निर्माण में उनकी बुद्धिमती माता का हाथ ही प्रमुख रहा, जो स्वयं अधिक पढ़ी-लिखी न होने पर भी बच्चों के मनोभावों से पूर्णतया परिचित और सहज-बुद्धियुक्त एक ऊंचे चरित्र की महिला थीं। वे उन माताओं में से नहीं थीं, जो सन्तान के तनिक भी आंखों से ओझल होने पर अधीर हो उठती हैं, प्रत्युत वे उन्हें स्वच्छन्द भाव से खेतों, वनों, हरे-भरे कूलों आदि में विचरण करने देती थीं। धार्मिक तथा भयप्रद कथा-कहानियों के बजाय वे बच्चों को 'जैक एण्ड जायंट-किलर', राबिनहुड आदि की अनेक ऐसी रहस्यमयी वीरतापूर्ण कहानियां सुनाया करती थीं, जिनसे वे साहसी, स्वावलम्बी और सन्तुलित मस्तिष्क के बन सकें। तभी तो मां के गुणों का स्मरण करते हुए वर्ड्सवर्थ ने लिखा है—"वे हमारी सब शिक्षाओं एवं प्रेमों का हृदय और मूल केन्द्र थीं।"

दुर्भाग्य से डोरोथी जब कुल छः ही वर्ष की थी, उसकी जननी की मृत्यु हो गई; किन्तु जिन सुघड़ हाथों में वे बच्चों की देख-रेख एवं सुशिक्षा का भार सौंप गईं, वे उनका भविष्य बनाने में कम लाभदायक सिद्ध नहीं हुए। डोरोथी की यह मौसी (मां की चचेरी बहन) भी अत्यन्त बुद्धिमती एवं सुसंस्कृत महिला थीं। उनका हृदय स्नेह एवं वात्सल्य से ओतप्रोत था। इससे एक ही वर्ष पूर्व वे अपनी सगी स्वर्गीया बहन के पांच नन्हें बच्चों का भार उठा रही थीं। बच्चों की सूक्ष्म मनोवृत्तियों का ज्ञान उन्हें अनेक योग्य माता-पिताओं से कहीं अधिक था। बच्चों की स्वतन्त्रताप्रिय वृत्ति, सम्मान एवं चारित्रिक विकास का पूरा ध्यान रखते हुए जिस ढंग से उन्होंने अपने भानजी-

भानजों का पालन-पोषण किया, उससे मां के अभाव को भुलाकर सहज ही बच्चों के हृदयों में अपना विशिष्ट एवं निकट स्थान बना लिया। उनके क्रियात्मक जीवन का विशेषतया डोरोथी पर जो प्रभाव पड़ा, उसी के फलस्वरूप वह आगामी पचास वर्षों तक भी अपनी इस स्नेहमयी मौसी को न भुला सकी।

डोरोथी की प्रारम्भिक शिक्षा स्कूलों और पुस्तकों की अपेक्षा हेली-फैक्स में अधिकतर अनेक संगी-साथियों के साथ भांति-भांति के खेलों, नृत्यों एवं पास-पड़ोस के गांवों में घूमते-फिरते ही हुई। कुल चौदह वर्ष की आयु में उसके छोटे-से निजी पुस्तकालय में शेक्सपियर, मिल्टन, फ़ील्डन, होमर, गोल्डस्मिथ, पोप आदि श्रेष्ठ कलाकारों की कृतियों का पाया जाना, उसकी उत्कृष्ट एवं परिष्कृत रुचि का परिचायक था। कदाचित् इसी कारण भाषा एवं शब्दों के समुचित प्रयोग पर उसे बचपन से ही पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गया था। सोलह वर्ष की अवस्था में लिखे गए पत्र उसकी परिपुष्ट एवं आकर्षक शैली का प्रमाण हैं; किन्तु प्रायः देखा गया है कि सरल, भावुक, मातृ-पितृ-हीन बच्चों को परिस्थितियां कुछ अधिक बनाना चाहती हैं। कुछ काल बाद उनके पिता की भी मृत्यु हो गई। इससे आर्थिक संकट के कारण तीनों लड़कों को होस्टल में तथा डोरोथी को नाना-नानी के पास जाकर रहना पड़ा।

वृद्धजन बच्चों को स्नेह तो करते हैं; किन्तु आयु के दीर्घ व्यवधान के कारण उनके कोमल मनोभावों को समझने में असमर्थ रहते हैं एवं उनके साथी कदापि नहीं बन पाते। इसपर डोरोथी की नानी तो नितान्त पुराने विचारों की थीं। वे न केवल प्रखर-बुद्धि डोरोथी को जंगली तथा मूढ़ ही समझती थीं, बल्कि मां और मौसी की कृपा से विकसित उसके उत्तम गुणों को दुर्गुण मानती थीं और इसलिए उन्हें दबाने का प्रयत्न करती थीं। उनका छोटा लड़का भी उनके इन विचारों में सम्मिलित था। डोरोथी को कहीं बाहर आने-जाने और किसी बन्धु-बान्धव से मिलने तक की स्वतन्त्रता नहीं दी जाती थी। पास-पड़ोस

की स्त्रियों की नुक्ताचीनी तथा व्यर्थ बैठकर गप्पें हांकना उसे अत्यन्त अरुचिकर जान पड़ता था। दिन-रात वह खाना बनाने, बर्तन मांजने तथा सफाई करने में ही लगी रहतीं। इससे तनिक छुट्टी पाकर कपड़ों की सिलाई और मरम्मत करने में लग जातीं। लुक-छिपकर किसी अर्द्ध-रात्रि में वह अपनी अभिन्नतम सखी जेन पोलान्ड को पत्र लिखने का अवसर निकाल लेती; क्योंकि नानी के यहां कलम, पुस्तक आदि हाथ में लेना भारी अपराध समझा जाता था। यही नहीं, वह तथा उसके प्राणों से प्यारे भाई वहां बड़े-बूढ़ों से लेकर नौकरों तक से पग-पग पर अपमानित होते थे। उनका संरक्षक मामा प्रायः ताने मारा करता—'तुम लोगों के रुपये चुक गए हैं। तुम्हारे पास कुछ भी गर्व करने योग्य शेष नहीं है!' छोटी-छोटी वस्तुओं के लिए भी उन्हें दूसरों का मुंह ताकना पड़ता था। एक बार उसके भाइयों को लिवा लाने का प्रबन्ध जान-बूझकर इसलिए नहीं किया गया कि 'बच्चे पत्र में यह लिखना क्यों भूल गए!' न ही उनके जन्मोत्सव पर किसी को निमन्त्रित किया या करने दिया जाता। ये बातें बहन डोरोथी के लिए असह्य थीं। संगी-साथी-विहीन वह अपने को कुण्ठित समझने लग गई। उस दम-घोंटनेवाले वातावरण में सप्ताह का अन्तिम दिन तो उसके लिए मानो शुभ नक्षत्र के समान था। भाई-बहन प्रति शनिवार की संध्या को एकत्रित होते और सोचते कि काश उनके पिता जीवित होते और उनका एक निजी मकान होता! अपने भविष्य के विषय में वे इसी तरह के मंसूबे बांधते!

किन्तु दुःख की भी सदा अवधि हुआ करती है। इन्हीं दिनों उनके बड़े मामा विलियम केम्ब्रिज से उच्च शिक्षा समाप्त कर के लौटे। वे घर-वालों से सर्वथा भिन्न एवं उदार प्रकृति के बुद्धिमान व्यक्ति थे। आते ही उनकी प्रखर-बुद्धि ने भानजी के गुणों को पहचान लिया और वे उससे अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने लगे। प्रातः-सायं उसे अपने साथ ले जाने और लैटिन, फ्रेंच, भूगोल, इतिहास आदि का अभ्यास कराने लगे। डोरोथी से वे अक्सर कहा करते, "अपने भावों को खुल-

कर पत्रों द्वारा व्यक्त करती जाओ।" उनके इस कथन एवं आदेश को डोरोथी आजीवन ध्येय बनाये रही। उसे मानों निर्दिष्ट मार्ग सूझ गया। फलस्वरूप उसके सैकड़ों की संख्या में सखियों, मित्रों, बन्धुओं आदि के नाम लिखे गए पत्रों का बृहत संग्रह आज अंग्रेजी साहित्य को डोरोथी की अमर देन है।

मामा विलियम का काम लग जाने की खबर सुनकर डोरोथी फूली नहीं समाई। कुछ दिन बाद उनका विवाह भी डोरोथी की एक प्रिय सखी से हो गया। अब तो वह मामा-मामी के पास फोर्नसेट में सुख से रहने लगी। उनके बाल-बच्चों का पालन-पोषण और घर का काम-काज उसने प्रसन्नतापूर्वक अपने हाथों में ले लिया। इतने समय में उसके भाइयों की शिक्षा भी समाप्त हो चुकी थी। डोरोथी को सभी भाई प्राणों से प्यारे थे; किन्तु विलियम वर्ड्सवर्थ और डोरोथी तो जैसे जुड़वां बच्चों की भांति थे। इनकी आयु का अन्तर भी केवल एक वर्ष का था। दोनों स्वच्छन्द, भावुक प्रकृति के अनन्य पुजारी और विश्व के कण-कण से स्वभावतया परिचित-से थे।

वर्ड्सवर्थ शिक्षा समाप्त करके बहन के पास आकर ठहरे। जब दोनों भाई-बहन घूमने जाते तो लम्बी यात्राओं, विदेश-भ्रमण एवं स्वतन्त्र-रूप से जीवन-निर्माण करने की योजनाएं बनाया करते। चिर-प्रतीक्षा और साधना के अनन्तर अन्त में वह दिन भी आया, जब दोनों सर्वथा मुक्त होकर वर्षों बाद पुनः अपनी प्रिय जन्मभूमि गार्समीयर की ओर गए। जिन पर्वतों, मैदानों और हरे-भरे फूलों की गोद में उनका शैशव बीता था, वे वृक्ष, फूल, पशु, पक्षी, ग्रामीण की भाषा और नीलाकाश तक मानों उनका स्वागत कर रहे थे! वहीं अपनी प्यारी झील के समीप डव-कुटीर का निर्माण कराकर वे उसमें रहने लगे। इन दिनों का डोरोथी ने जो वर्णन किया है वह अत्यन्त यथार्थ और मधुर है। एक स्वर्गीय मित्र की कृपा से यद्यपि उन्हें कुछ धन प्राप्त हो गया था, तथापि जीवन-निवाह की समस्या अभी तक पूर्णतया हल नहीं हुई थी। वर्ड्सवर्थ निजी लेखों तथा अनुवादों द्वारा कुछ उपार्जन करने

लगे। इधर डोरोथी ने भी घर के काम-काज के अतिरिक्त एक संबंधी के दो-तीन बच्चों के संरक्षण का काम ले लिया। वह बिना किसी नौकर-नौकरानी की सहायता के खाना बनाती, सिलाई करती, कपड़े धोती और साथ ही वर्ड्सवर्थ की कविताओं का प्रूफ देखने का काम भी करती। दिन भर इस प्रकार व्यस्त रहने पर भी अब वह खूब प्रसन्न थी। प्रत्येक जीव-जन्तु, पक्षी, बादल, हवा के झोंके तक से उसका अटूट अनुराग था। परिस्थितियों ने उसे लौकिक आडम्बरों से पृथक रखकर अन्तर्दर्शी एवं प्रकृति की अत्यन्त सूक्ष्म ध्वनियों से जोड़-सा दिया था। विलियम वर्ड्सवर्थ की 'प्लेन लिविंग एण्ड हाई थिंकिंग' आदि कविताएं इन्हीं दिनों को लक्ष्य करके लिखी गई हैं। प्रायः ऐसा होता था कि भाई बाहर झील के किनारे बैठे कविताएं लिख रहे हैं और बहन घर में खाना बनाने आदि गृह-कार्यों में व्यस्त है। छोटा बालक हाथ में कविताएं लिए आता, डोरोथी सब काम छोड़ वहीं उनमें संशोधन करने लग जाती। विश्व के महान कवि वर्ड्सवर्थ की कविताओं के पीछे डोरोथी का कितना बड़ा हाथ है, इसे प्रायः कम ही लोग जानते हैं! पर यथार्थ में वही उनकी मूल प्रेरक, सर्वप्रथम संशोधक, आलोचक और प्रशंसक थी।

उनकी दिनचर्या के एक-दो पन्ने देखिए—"विलियम रात भली-भांति सो नहीं सका। प्रातः नौ बजे बिस्तर से उठा; किन्तु उठने से पूर्व उसने 'भिखारी बालक' शीर्षक कविता समाप्त कर ली थी। नाश्ते के वक्त भी वह उसी प्रकार खुले गले की कमीज पहने 'तितली' नामक कविता लिखने में निमग्न रहा। मक्खन-रोटी आदि को उसने छुआ तक भी नहीं। इस कविता को लिखने का भाव इस प्रकार उसके मन में उठा : योंही परस्पर बाल्यकाल की बातें करते-करते तितलियों का मृदु प्रसंग आ गया। कैसे हम हर समय तितलियों को देखने के लिए उत्सुक रहते थे! उनके कोमल पंखों की धूलि उड़ न जाय, इस भय से मैं उन्हें पकड़ न पाती थी। और विलियम ने सुनाया कि कैसे वह साथियों-समेत सफेद-सफेद बहुत-सी तितलियों का संग्रह कर लाता था।"

एक दूसरा वर्णन है—"वन से आते समय दूर से हमने कुछ डेफोडिल (नर्गिस) पानी की सतह पर खिले देखे। ऐसा लगा, मानों झील ने कभी कुछ बीज किनारे पर फेंक दिये हों, जिनसे वहां फूलों का नगर-सा बस गया हो; किन्तु ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते गए, फूल भी क्रमशः अधिक दिखाई देने लगे। अन्त में उनकी लम्बी कतार एक चौड़ी सड़क की भांति जान पड़ी। इतने सुन्दर फूल मैंने पहले कभी नहीं देखे थे। वे जहां-तहां काई-भरी चट्टानों के मध्य में हिलोरें ले रहे थे। कुछ मानों उनपर अलसित भाव से विश्राम के हेतु झुके थे। झील के वक्ष पर से उठती हुई मस्त पवन भी जैसे उन्हें थपकियां दे रही थी।"

इन स्थलों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानों एक ही ध्वनि वंशी के दो छिद्रों द्वारा प्रवाहित हो रही हो। इसी कारण अपने प्रिय भाई के विवाह के अवसर पर डोरोथी की आंखों से जो आंसू सहसा झर पड़े थे, वे अत्यन्त स्वाभाविक थे। किन्तु उसका संशय निर्मूल सिद्ध हुआ; क्योंकि विवाह के कुल एक ही घंटे बाद वे तीनों दूर भ्रमण के लिए चले गए और आश्चर्य की बात यह कि बाल्यकाल के वे तीनों खेल-कूद के साथी आगामी पचास वर्षों तक एक ही घर में बिना किसी मनोमालिन्य के एक साथ स्नेहपूर्वक रहे।

प्रारम्भ से ही भाई-बहन के बौद्धिक जीवन की अभिन्नता एवं परस्पर-पूर्ति का ज्ञान उदारहृदय, सहनशील 'मेरी' को भली प्रकार हो गया था अतः उसने उन्हें सभी प्रकार की स्वतन्त्रता दे रखी थी। इधर डोरोथी ने भी जिस स्नेह से 'मेरी' के बाल-बच्चों का लालन-पालन किया, उसे पढ़कर देह-मन पुलकित ो उठते हैं। वे उनकी धर्ममाता बनीं। बाल-मनोवृत्तियों का अध्ययन तो वे बहुत पहले से ही करती आई थीं। (इसी बीच उन्होंन ग्रामीण बच्चों का एक स्कूल भी खोला था।) उनके भोले, पवित्र मुख देख-देखकर वे नाच उठतीं और उन्हें गोद में लेकर मधुर कण्ठ से लोरियां सुनातीं तथा उनके साथ खेलते-हंसते स्वयं बच्ची बन जातीं। एक बार वे किसी साहित्यिक कार्य में गहन भाव से लीन थीं कि नीचे रसोईघर से बुलाहट हुई और आंचल खींचकर डोरोथी

को इसलिए वहां लाया गया कि उनकी भतीजी कई अन्य बच्चों को नाचने के लिए निमन्त्रित कर लाई थी और बिना बुआ का हाथ पकड़कर नृत्य करने और मुंह से भांति-भांति के स्वर निकालने के वह उत्सव पूरा नहीं हो रहा था।

इस तरह चिरकाल तक डव-कुटीर मुखर जीवन, सौन्दर्य एवं साहित्य का केन्द्र बनी रही। उस समय के प्रायः सभी प्रसिद्ध लेखक और कवि—कोलरिज, लैम्ब, स्काट, डी-क्वेन्सी आदि—इस परम रमणीक एवं मधुर वातावरण की शोभा बढ़ाते थे। डोरोथी के साथ इन सबका स्नेहयुक्त व्यवहार था, जो उनके उपलब्ध पत्र-व्यवहार से प्रकट है।

बीच-बीच में वर्ड्सवर्थ-परिवार देश-विदेश की लम्बी यात्राओं के लिए भी जाता था। समस्त यूरोप का भ्रमण करके डोरोथी ने बाल्य-काल के अपने स्वप्न सत्य सिद्ध किए। आल्प्स के हिमाच्छादित गगन-चुम्बी शिखर तथा समुद्र की उत्ताल तरंगों को देखकर वे आनन्द के मारे उछल पड़ी थीं। अनेक चांदनी रातों, झीलों, निर्झरों, विविध पक्षियों के संगीत, सूर्यास्त के अनुपम रंगों आदि का अपूर्व वर्णन डोरोथी तथा मेरी द्वारा हजारों पृष्ठों की उनकी विस्तृत दिनचर्या में लिपिबद्ध है। वे यात्राएं केवल प्राकृतिक सौन्दर्य-पान के हेतु ही नहीं की गईं, बल्कि इनके दौरान में डोरोथी ने जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड, फ्रांस, स्काटलैण्ड आदि देशों में मीलों पैदल घूमकर वहां के ग्राम-निवासियों—विशेषकर गरीब किसानों—की वेष-भूषा, रहन-सहन, सामाजिक व्यवस्था तथा कई एक ग्रामीण भाषाओं का गम्भीर अध्ययन भी किया। बिना हिचकिचाहट के जिस निर्भीकता से वे अपरिचित ग्रामीण घरों में घुस जातीं, राहगीरों से सहज-भाव से मेल-मिलाप कर लेतीं और उनकी टूटी-फूटी भाषा में जैसे वार्त्तालाप करने लगतीं, उसे देखकर उनके साथी विस्मित हो उठते थे।

चित्रकला एवं संगीत की शिक्षा परिस्थितिवश न प्राप्त कर सकने का डोरोथी को बहुत दुःख था; किन्तु लेखनी द्वारा उनके-से सजीव

चित्रांकन दुर्लभ हैं। बिरला ही चित्र वे मानव को अग्र-भूमि में लाए बिना उतारती थीं।

वास्तव में आजन्म कुमारी डोरोथी का जीवन स्वयं ही झीलों, प्रपातों, झरनों के समान निर्मल और किसी सुन्दर पक्षी की उड़ानों के सदृश्य स्वच्छन्द रहा है। उन्हें निर्भयतापूर्वक वनों में विचरते देखकर एक ग्रामीण महिला ने मुग्ध होकर कहा था—"वह तो स्वयं प्रकृति का एक अंश है।" पचपन वर्ष की आयु तक वे हिम-पूरित शिखरों और स्काटलैण्ड के ग्रामों में घूमती रहीं। जीवन-भर कभी बीमार नहीं पड़ीं। प्रातः-सायं पक्षियों के कलरव के बीच एकान्त में घूमने का नियम उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। वे अनेक पक्षियों को स्वरों से ही पहचान लेती थीं। उनके पत्रों और लेखों में हम प्रायः उन्हें नीरव चांदनी रातों में कभी प्रिय भाई की प्रतीक्षा करते, कभी एकटक वायु और जल-धाराओं की विभिन्न ध्वनियां सुनते और कभी रेबिन, अबाबील और यहां तक कि कीट-पतंग तक का वर्णन करते पाते हैं। और अन्त में जब वे साठवें वर्ष में रोग-शय्या पर जा पड़ीं तो भी बिस्तर पर पड़ी-पड़ी कविताओं, पुस्तकों, पक्षियों के ही मधुर स्वप्न देखा करती थीं। वह विपत्ति वर्ड्सवर्थ-परिवार पर अकेली नहीं आई। कवि वर्ड्सवर्थ, उनकी प्राणप्रिय पुत्री डोरा और डोरोथी तीनों एक साथ बीमार पड़ गए। बिचारी मेरी, जो इन सबसे आयु में बड़ी थी, अत्यन्त परिश्रम से उनकी सेवा में लगी रही। होनहार युवती डोरा की मृत्यु सबसे पूर्व हुई। उसके बाद वर्ड्सवर्थ गुजर गये। इधर डोरोथी के बचने की भी आशा नहीं थी; किन्तु डोरोथी की आन्तरिक इच्छा थी कि उसकी मृत्यु का दुःख उसका प्यारा भाई न सहन करे। और हुआ भी ऐसा ही। वर्ड्सवर्थ की मृत्यु के पूरे एक वर्ष बाद उसी दिन, उसी सन्ध्या के समय जीवन-भर छाया की भांति भाई के साथ रहनेवाली बहन डोरोथी परलोक सिधारीं।

इस प्रेमी बहन की अमर कथा साहित्य में अनन्त काल तक गूंजती रहेगी। सैकड़ों लम्बे पत्रों तथा बृहत् दिनचर्या के पत्रों में गद्य-

पद्य द्वारा जो-कुछ भी डोरोथी ने लिखा, वह तनिक भी प्रकाशन अथवा साहित्यिक दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि अत्यन्त सरलता से अपने प्रिय भाई को महत्व प्रदान करने के लिए, उस भाई को जो वास्तव में आज संसार का महाकवि हो गया है। जीते-जी कभी कहीं एक पंक्ति भी डोरोथी के नाम से प्रकाशित नहीं हुई, हालांकि जिस महानता का साक्षात्कार डोरोथी ने किया था, जो प्रेरणा उसने भाई की आत्मा में फूंकी थी वह अन्यत्र अलभ्य है। और न वर्ड्सवर्थ-सी श्रद्धांजलि ही कोई अन्य कवि अपनी बहन को अर्पित कर सका :

"Where'er my foot-steps turned,
Her voice was like a hidden bird that sang.
The thought of her was like a flash of light,
Or unseen companionship a breath,
Or fragrance independent of the wind.
In all my going in the new and old,
Of all my meditations, and, in this
Favourite of all, in this the most of all."

× × ×

"She gave me eyes, she gave me ears,
Her heart was a fountain of tears."

अर्थात्—"जहां कहीं मैं गया, उसका स्वर मुझे ऐसे सुनाई देता था, मानों कोई पक्षी छिपकर गा रहा है। उसकी स्मृति प्रकाश-किरण जैसी थी। अथवा उसका अदृश्य साहचर्य स्वांस के सदृश्य था। अथवा वायु के बिना भी उसकी सुगंधि आ रही थी। जीवन की प्रत्येक गति-विधि तथा चिन्तन में वह मेरे लिए सर्वप्रिय और सर्वोत्कृष्ट रही।"

× × ×

"उसने मुझे दृष्टि प्रदान की और श्रवणशक्ति दी, उसका हृदय आंसुओं का स्रोत था।"

: ५ :

राष्ट्रमाता बा

सत्यवती मल्लिक

सम्भवतः उन दिनों डा० अन्सारी की कोठी में 'गान्धी-अर्विन पैक्ट' की धूम थी। बहन उर्मिला अपने दैनिक पत्र 'जन्मभूमि' के लिए सबेरे-सबेरे पूज्य बापू का सन्देश लेने जा रही थीं। किसी भव्य मन्दिर में अद्भुत दृश्यों की कल्पना से मां का आंचल पकड़ उचक-उचक कर चलने वाले शिशु की भांति मैं भी साथ चल दी।

एक स्वयंसेवक हमें एक छोटे-से हॉल में ले गया। एक ओर ऊपर तक बिस्तरों के ढेर तथा कपड़े के लटके थैलों में वस्त्र आदि, दूसरे कोने में चर्खे करीने से रखे थे, तीसरे में स्टोव तथा छोटी अंगीठी पर खान-पान की व्यवस्था हो रही थी। कमरे के बीचों-बीच मानों उस सुव्यवस्थित वातावरण की प्रतिमा-सी, मृदु हंसी एवं भाल पर कुंकुम दिए एक वृद्धा स्त्री चर्खा कात रही थी। देखते ही मुझे बा का अनुमान हो आया। हम दोनों वहीं उनके पास बैठ गईं। इसी समय शुभ्र चादर ओढ़े एक सौम्य मूर्ति ने प्रवेश किया और बा से कुछ पूछा। इतने समीप, उन्हीं के घर पर ! ...उस समय उस महान आत्मा के आगे प्रणत होने के सिवाय कुछ सूझ न पड़ा।

बाहर के कई विशेष व्यक्तियों से महात्माजी की आवश्यक बात-चीत का समय निश्चित था। अतः हमें काफी देर बा के पास बैठने का अवसर मिला। बहन उर्मिला द्वारा लिखित 'कारागार' की भूमिका बा ने ही लिखी थी। उनसे उर्मिला का परिचय शायद

कारावास के दिनों में ही अधिक रहा होगा। सो वे दोनों परस्पर जेल के अनुभवों की बातें करती रहीं।

एक शीतल सघन छांह में से मानों उठकर, घर आते ही सब लोगों ने घेर कर उत्सुकता से प्रश्न किए तो मैंने कहा, "कुछ भी नहीं! ठीक साधारण मुसाफिरों की तरह वे लोग रहते हैं। खासकर बा तो नितान्त ही साधारण स्त्री हैं।" लौटती बार वहां की पान्थशाला की अनुपम सुव्यवस्था ने मुझे लुभा लिया था।

× × ×

कन्याओं के लिये एक उपयोगी संग्रह की इच्छा बहुत दिनों से मन में थी। गांधीजी की पूजनीया जननी का रेखा-चित्र उसमें अवश्य होना चाहिए, इसी सम्बन्ध में दोपहर के समय बा से मिलने के लिए हरिजन-बस्ती गई। उस दिन प्रातः प्रार्थना में भी सम्मिलित होने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। जाड़े के दिनों में सबेरे ४ बजे पसठ वर्षीया नारी को नंगे पैर, हाथों में लैंप लिये आश्रम में स्फूर्ति से घूमते और मध्यान्ह से पांच बजे तक उसी उत्साह से इधर-उधर, ऊपर-नीचे काम-काज में व्यस्त देखकर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। उनकी पुत्रवधू श्रीमती देवदास गांधी द्वारा जब मैंने अपना अभिप्राय बताया तो बोलीं, "भई, पहले तो मुझे बापू को जिमाना है।" मुझे अकस्मात हंसी आ गई, मानों बापू उनके बच्चे हों, खाना-खिलाना, घी, तेल मलना। ज्ञात हुआ—आज बापू का जन्मोत्सव है। बापू बा के हाथों ही खाएंगे और बा उन्हें खिलाकर ही उपवास तोड़ेंगी।

—"उसने बहुत कुछ लिख दिया है। मैं और क्या कहूं! अच्छा चलो! कुछ जलपान कर लो।"

घंटा भर प्रतीक्षा करने के बाद 'खा-पी लो, जलपान कर लो', यही उत्तर पाकर मैंने झुंझलाकर यह निष्कर्ष निकाला कि बा पुराने ढंग की भोली-भाली अतिसाधारण स्त्री हैं, जिन्हें निजी व्यक्तित्व तथा अपनी कुछ कहने-सुनने के लिये, खिलाने-पिलाने, घर के काम-काज आदि से तनिक भी फुर्सत नहीं।

तो भी उस अत्यन्त साधारण नारी के मृदु व्यवहार के प्रति आकर्षण बढ़ता ही गया। दो-एक वर्ष बाद पुनः जब वे यहीं कनाट सर्कस में अपने कनिष्ट पुत्र श्री देवदास गांधी के यहां ठहरीं तो मिलने गई।

स्वस्थ थीं; पर खाली तब भी न बैठी थीं। मैंने अपना कहानी-संग्रह 'दो फूल' उनका नाम लिखकर भेंट किया तो विशेष प्रसन्न हुईं। अपने दोनों नातियों को बुलाकर परिचय कराया। तब उपयुक्त अवसर जानकर मैंने उनके प्रारम्भिक जीवन तथा उनकी स्वर्गीया सास के बारे में बातचीत शुरू की। स्मृति-स्वरूप ऐसी कितनी लज्जास्मित रेखाएं उस वृद्ध चेहरे पर दौड़ गईं जो कभी भूल न सकूंगी।

बहुत-सी बातें चर्खा कातते-कातते वे सुनाती रहीं, जिनकी मधुरता में मैं उन्हें लिपिबद्ध करना भूल गई। ऐसे अपनत्व में जान ही न पड़ा कि मैं किसी विशेष कार्य से आई हूं।

अकस्मात् गाड़ी में कहीं जाते-जाते समाचार मिला, ''बा इस संसार में नहीं हैं।" एकाएक आत्मकथा के कितने ही पन्ने आंखों के सामने पलट गए :

"जब मुझे विवाह का स्मरण हो आता है तो अपनेपर दया आने लगती है। तेरह वर्ष की उमर में हमारा विवाह हुआ और उन बच्चों को बधाई देने की इच्छा होती है कि वे मेरी दुर्गति से अबतक बचे हुए हैं।"

"मैं एक बुरे आदमी की सोहबत में पड़ गया। पत्नी की चेतावनी पर तो मैं अभिमानी पति क्यों ध्यान देने लगा था ... फिर मैं बड़ा डरपोक था। रात को अकेला जाने की हिम्मत न होती थी और पत्नी के सामने, जो अब कुछ युवती हो चली थीं, भय की बातें करते हुये संकोच होता था; क्योंकि मैं इतना जान चुका था कि वह मुझसे अधिक हिम्मतवाली हैं...उसे सांप वगैरा का भय तो छूकर भी न गया था... अंधेरे में अकेली चली जातीं।"

"मैं जैसा प्रेमी पति था, वैसा वहमी पति भी था। इस बुरे मित्र की बातें मानकर मैंने अपनी धर्मपत्नी को कई बार दुःख में डाला है।

इस हिंसा के लिए मैंने कभी अपने को माफ नहीं किया। हिन्दू स्त्री ही ऐसे दुःखों को सहन कर सकती होगी और इसलिए मैंने स्त्री को सदा सहनशीलता की मूर्ति माना है। नौकर-चाकर पर यदि झूठा वहम आने लगे तब तो वे नौकरी छोड़कर चले जाते हैं। पुत्र पर ऐसी बीते तो वह बाप का घर छोड़कर चला जाता है। मित्रों में वहम पड़ जाय तो मित्रता टूट जाती है। पत्नी को यदि पति पर शक हो तो बेचारी मन मसोस कर रह जाती है। पर यदि पति के मन में पत्नी के लिए सन्देह हो तो बेचारी का भोग भोगे ही छुटकारा! वह कहां जाय? उच्च वर्ण की हिन्दू स्त्री अदालत में जाकर तलाक भी नहीं दे सकती। ऐसा एक-पक्षी न्याय उसके लिए रखा गया है। यही न्याय मैं उसके साथ करता। इस दुःख को मैं कभी भूल नहीं सकता।

"जोहान्सबर्ग में मेरा एक कारकुन ईसाई था। उसके मां-बाप पंचम जाति के थे। कमरों में हमारे घर में पेशाब के लिए एक अलग बर्तन होता था। उसे साफ करने का काम हम दोनों का था, नौकरों का नहीं। और बर्तन तो कस्तूरबाई उठाकर साफ कर देती; लेकिन इन भाई का बर्तन उठाना उसे असह्य मालूम हुआ। इससे हम दोनों की आपस में खूब चली! यदि मैं उठाता हूं तो उसे अच्छा नहीं मालूम होता! और खुद उसके लिए उठाना कठिन था। फिर भी आंखों से मोती की बूंदें टपक रही हैं। एक हाथ में बर्तन है और अपनी लाल-लाल आंखों से उलाहना देती हुई कस्तूरबाई सीढ़ियों से उतर रही हैं। यह चित्र मैं आज भी ज्यों-का-त्यों खींच सकता हूं; परन्तु मैं जैसा सहृदय और प्रेमी पति था वैसा ही निठुर और कठोर भी। मैं अपने को उसका शिक्षक मानता था। इससे अपने अन्ध-प्रेम के अधीन हो मैं उसे खूब सताता था। इस कारण महज़ उसके बर्तन उठा ले जाने भर से सन्तोष न हुआ। मैंने चाहा कि वह उसे हंसते हुए ले जाय। और उसके लिए मैंने उसे डांटा-डपटा भी। उत्तेजित होकर कहा—'देखो, यह बखेड़ा मेरे घर में न चल सकेगा।'

"मेरा यह बोल कस्तूरबाई को तीर की तरह लगा। धधकते हुए दिल से उसने कहा—'तो लो रखो यह अपना घर ! मैं चली !'

"उस समय मैं ईश्वर को भूल गया था। दया लेशमात्र मेरे हृदय में न रह गई थी। मैंने उसका हाथ पकड़ा। सीढ़ी के सामने ही बाहर निकलने का दरवाजा था। मैं उस दीन अबला का हाथ पकड़कर दरवाज़े तक खींचकर ले गया। दरवाजा आधा खोला गया कि आंखों में गंगा-जमुना बहाती हुई कस्तूरबाई बोलीं—

" 'तुम्हें तो कुछ शर्म है ही नहीं, पर मुझे है। जरा तो लजाओ। मैं बाहर निकलकर आखिर जाऊं कहां ? मां-बाप भी यहां नहीं कि उनके पास चली जाऊं ! मैं ठहरी स्त्री ! इसलिए मुझे तुम्हारी धौंस सहनी पड़ेगी। अब जरा शर्म करो और दरवाजा बन्द कर लो। कोई देख लेगा तो दोनों की फजीहत होगी।'

"मैंने अपना चेहरा सुर्ख बनाए रखा; पर मन में शरमा गया। दरवाजा बन्द कर दिया। जबकि पत्नी मुझे छोड़कर नहीं जा सकती थी तब मैं भी उसे छोड़कर कहां जा सकता था। इस तरह हमारे आपस में लड़ाई-झगड़े कई बार हुए हैं; परन्तु उनका परिणाम सदा ही अच्छा निकला है। उसमें पत्नी ने अपनी अद्भुत सहनशीलता के द्वारा विजय प्राप्त की है।

"आज मैं तब की तरह मोहान्ध पति नहीं हूं, न उसका शिक्षक ही हूं। हम आज एक-दूसरे के भुक्त-भोगी मित्र हैं। एक-दूसरे के प्रति निर्विकार रहकर जीवन बिता रहे हैं। कस्तूरबाई आज ऐसी सेविका बन गई हैं, जो बीमारियों में बिना प्रतिफल की इच्छा किये शुश्रूषा करती है। मेरे पीछे-पीछे चलने में उसने अपने जीवन की सार्थकता मानी है—और स्वच्छ जीवन बिताने के मेरे प्रयत्नों में उसने कभी बाधा नहीं डाली। इस कारण यद्यपि हम दोनों की बुद्धि और शक्ति में बहुत अन्तर है तो भी मेरा ख्याल है कि हमारा जीवन संतोषी, सुखी और ऊर्ध्वगामी है।...

"१८९६ में जब मैं देश आया था, तब भी भेंटें मिली थीं। पर इस बार की भेंटों में सोने-चांदी की चीजों के अतिरिक्त हीरे की चीजें भी थीं। एक पचास गिन्नी का हार कस्तूरबाई के लिए था, मगर उसे जो चीज मिली थी वह भी तो मेरी ही सेवा के फल-स्वरूप। अतएव मैं लोक-सेवा के उपलक्ष्य में दी गई चीजें (चाहे वह मुवक्किलों से हों) कैसे मंजूर कर सकता था ?

"जिस शाम को वह उपहार मिले वह रात मैंने पागल की तरह जागकर काटी। न लेना भारी पड़ रहा था; पर लेना उससे भी भारी मालूम होता था, क्योंकि मेरे बच्चों और पत्नी को तालीम तो सेवा की मिल रही थी—'सेवा का दाम नहीं लिया जा सकता'—यह हमेशा सिखाया जाता था। सादगी बढ़ती जाती थी—घर में कीमती जेवर, घड़ियां, हीरे की अंगूठियां कौन पहनेगा !

"अन्त में इस निर्णय पर पहुंचा कि वे चीजें मैं हरगिज नहीं रख सकता। मैं जानता था कि धर्मपत्नी को समझाना कठिन पड़ेगा; पर विश्वास था कि बालकों को समझाने में जरा भी दिक्कत पेश न आयेगी। अतः उन्हें वकील बनाने का विचार किया। बच्चे तुरन्त समझ गए और बोले—'हमें इन गहनों से कुछ मतलब नहीं। चीजें लौटा देनी चाहिए।' मैं प्रसन्न हुआ—'तो तुम बा को समझाओगे न ?'

"जरूर, वह कहां इन गहनों को पहनने चली हैं !' परन्तु काम अन्दाज से ज्यादा मुश्किल साबित हुआ।

" 'तुम्हें चाहे जरूरत न हो और लड़कों को भी न हो, बच्चों का क्या ? जैसा समझा दें, समझ जाते हैं। मुझे न पहनने दो, पर मेरी बहुओं को जरूरत न होगी ? जो चीजें इतने प्रेम से लोगों ने दी हैं उन्हें वापस लौटाना ठीक नहीं।'—इस प्रकार वाग्धारा शुरू हुई और उसके साथ अश्रुधारा भी आ मिली। लड़के दृढ़ रहे और भला मैं क्यों डिगने लगा !

"मैंने धीरे से कहा—'पहले लड़कों की शादी तो होने दो। हम बचपन में तो इनके विवाह करना चाहते ही नहीं हैं। बड़े होने पर

जो इनका जी चाहे सो करें। फिर हमें गहने-कपड़ों की शौकीन बहुएं खोजनी हैं ? फिर भी अगर कुछ बनवाना होगा तो मैं कहां चला गया हूं ?'

" 'हां, जानती हूं तुमको ! वही न हो जिन्होंने मेरे भी गहने उतार लिए हैं ! जब मुझे ही नहीं पहनने देते तो मेरी बहुओं को जरूर ला दोगे ! लड़कों को तो अभी से वैरागी बना रहे हो ! पर इन गहनों को मैं वापस नहीं होने दूंगी ! और फिर हार पर तुम्हारा क्या हक ?'

"यह हार तुम्हारी सेवा की खातिर मिला है या मेरी ?"

" 'जैसा भी हो। तुम्हारी सेवा में क्या मेरी सेवा नहीं है ? मुझसे जो रात-दिन मजूरी कराते हो, क्या वह सेवा नहीं है ? मुझे रुला-रुलाकर जो ऐरे-गैरों को घरों में रखा और मुझसे सेवा-टहल कराई, वह कुछ भी नहीं ?'

"ये सब बाण तीखे थे। कितने ही चुभ रहे थे, पर गहने लौटाने का निश्चय ही कर चुका था। अन्त को बहुतेरी बातों में जैसे-तैसे सम्मति प्राप्त कर सका।

"किन्तु अगले दस वर्षों की कठोरताओं ने युवती बा के जीवन को कुछ और ही बना दिया। उनके हठधर्मी पति का अवतरण केवल मानव-समाज के कल्याण के हेतु हुआ है, यह उसने पहचान लिया और नारी-सुलभ सभी स्वाभाविक आकांक्षाओं की आहुति दे दी।"

"१९१२ में एक ऐसा मामला अदालत में आया जिसमें न्यायाधीश ने यह फैसला दिया कि दक्षिण अफ्रीका के कानून में उसी विवाह के लिए स्थान है, जो ईसाई धर्म के अनुसार होता है—अर्थात् जो विवाह अधिकारी के रजिस्टर में दर्ज कर लिया जाता है, उसके सिवा और किसी विवाह के लिए उसमें स्थान नहीं। इस भयंकर फैसले के अनुसार हिन्दू, मुसलिम, पारसी, सभी विवाह रद्द करार दे दिये गए और उसकी मंशा के अनुसार दक्षिण अफ्रीका में विवाहित कितनी ही भारतीय स्त्रियों का दरजा धर्मपत्नी का न रहा। वे सरासर रखेलियां

समझी जाने लगीं। स्त्रियों का ऐसा अपमान होने पर धीरज धारण कैसे किया जा सकता था? स्त्रियों को सत्याग्रह में शामिल होने से हम कैसे रोक सकते थे। सभी तो जेल जाने को तय्यार थीं। किन्तु अपनी पत्नी को इस विषय में नहीं कहना चाहता था; क्योंकि ऐसे जोखिम के समय सभी अपने आप जो काम करें, उसी को मंजूर कर लेना हितकर होता है; किन्तु पत्नी ने कहीं-न-कहीं यह सब सुन लिया, बोली—

" 'दुःख है कि आप मुझसे इस विषय में बातचीत क्यों नहीं करते! मुझमें कौन-सी खामी है जो मैं जेल न जा सकूंगी? मैं भी उसी पथ पर चलना चाहती हूं जिसके लिए आप इन बहनों को सलाह दे रहे हैं।'

" 'पर अगर अदालत में खड़ी रहते समय तुम्हारे हाथ-पांव कांपने लगे, हिम्मत हार जाओ, जेल के कष्ट बर्दाश्त न कर सको तो मेरा क्या हाल होगा? संसार में हम ऊंचा सिर करके कैसे खड़े रह सकेंगे?'

" 'यदि मैं हिम्मत हारकर छूट जाऊं तो आप मुझे अंगीकार मत कीजिएगा। आप यह कल्पना भी कैसे कर सकते हैं कि आप और बच्चे तो उन कष्टों को सह सकते हैं—अकेली मैं ही उन्हें नहीं सह सकूंगी! मुझे तो आपको इस युद्ध में शामिल करना ही पड़ेगा।'

" 'तुम मेरी शर्त भी जानती हो। स्वभाव से भी परिचित हो। अब भी विचार करना हो तो करलो।'

" 'मुझे कुछ सोचना-विचारना नहीं है। मैं अपने निश्चय पर दृढ़ हूं।'

"और वास्तव में स्त्रियों की बहादुरी का वर्णन करना कठिन है। नेटाल की राजधानी मैरित्सबर्ग की जेल में वे रखी गईं, उन्हें खूब कष्ट दिये गए, खान-पान की ज़रा भी चिन्ता नहीं की जाती थी—काम उन्हें धोबी का दिया गया—बाहर से खाना मंगाने की सख्त मनाही थी। कस्तूर बा को बीमार होने के कारण जेतून का तेल आदि

ख़ास तरह का भोजन मिलना चाहिए था; किन्तु अधिकारियों का उत्तर था, 'यह होटल नहीं ! जो मिलेगा वही खाना पड़ेगा ।' इसीसे वह जब जेल से छूटीं तो बदन में हड्डियां भर रह गई थीं और बड़ी मुश्किल से बचीं ।

"पुनः स्वदेश लौट आने पर जिस प्रकार उन्होंने बार-बार अपने को अर्पण किया। जीवन के कटु अनुभवों ने उन्हें ढालकर जिस ऊंचे मानसिक स्तर पर पहुंचा दिया, बिना एक शब्द भी किसी से प्रोत्साहन अथवा मुस्कराहट के निरन्तर युद्ध में जिस प्रकार वे जूझती रहीं । सत्याग्रह–आश्रम साबरमती या फिनिक्स, डरबन या सेगांव ! आश्रम संस्थाओं का परिपूर्ण संचालन और आतिथ्य करने वाली ! तिसपर भी अनेक अग्नि-परीक्षाएं ।"

सहसा जी कांप उठा ! उस साधारण नारी के कठोर साधना में बीते लम्बे, असाधारण जीवन की ओर दौड़ती हुई मेरी आंखें सजल हो उठीं। हृदय से अनायास निकल पड़ा—

बा की तुलना, महलों में वियोग के आंसू बहानेवाली यशोधरा एवं उर्मिला से नहीं, अपितु चिरसंगिनी सीता अथवा प्राणदात्री सावित्री से ही हो सकती है । शरत्-चांदनी की तरह उज्ज्वल, जान्हवी की पुण्यधारा-सी निर्मल, युगान्तर से अपने अस्तित्व को मिटाकर, पुरुष को गौरव प्रदान करती हुई, भारतीय नारी का श्रेष्ठ स्वरूप, जिसके दोनों महिमामय हाथ पलना झुलाते, पलकें प्रतीक्षा में और प्राण छाया की भांति साथ-साथ चलते है !

: ६ :

अमर लेखिका स्टो

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

पांच बच्चों की एक मां ने, जब उसके छठा बच्चा हुआ था, अपनी भाभी को एक पत्र में लिखा था—"भाभी, जबतक बच्चा रात को मेरे पास सोता है तबतक मैं कोई काम नहीं कर सकती; पर मैं करूंगी जरूर। अगर जिन्दा रही तो दासत्व प्रथा के खिलाफ जरूर लिखूंगी।"

अमरीका में उन दिनों गुलामी की प्रथा जोरों पर थी। बेचारे नीग्रो लोगों को नरकतुल्य यातनाएं सहनी पड़ती थीं। जानवरों की तरह उनकी खरीद और बिक्री की जाती थी। मां बच्चों से अलग की जाती थी, पति पत्नी से, पिता पुत्र-पुत्रियों से। गुलामों की इस दुर्दशा को देखकर श्रीमती हैरियट एलीजबेथ स्टो का दिल पिघल गया और उन्होंने दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली कि इस दासत्व प्रथा के विरुद्ध अवश्य लिखूंगी।

एक बार उन्होंने लिखा था—"अगर मेरे समुद्र में डूबने के साथ-साथ गुलामी की प्रथा के तमाम पाप और अत्याचार भी डूब जायं तो मैं समुद्र में डूबकर प्राण देने को भी तैयार हो जाऊंगी।"

रविवार का दिन था। श्रीमती स्टो गिरजाघर गई हुई थीं और वहां धर्मोपदेश सुन रही थीं कि एक साथ उनके मन में पुस्तक प्रारम्भ कर देने की प्रेरणा उत्पन्न हुई और उन्होंने पहला अध्याय वहीं पर

बैठे-बैठे लिख डाला। फिर उन्होंने वह अध्याय अपने बच्चों को सुनाया। सुनकर बच्चों की आंखों से आंसू टपटप गिरने लगे! इतने में श्रीमती स्टो के पतिदेव भी आ गये। बच्चों को रोते हुए देखकर वे आश्चर्यचकित रह गये। समझ में नहीं आया कि माजरा क्या है। तब श्रीमती स्टो ने वह अध्याय पति को भी सुनाया और वे भी रोने लगे! इस प्रकार प्रारम्भ हुआ उस महत्वपूर्ण ग्रंथ का, जिसने आगे चलकर संसार में अक्षय कीर्ति प्राप्त की, जिसका अनुवाद शीघ्र ही संसार की तेईस भाषाओं में हो गया और जिसकी लाखों ही कापियां जनता के हाथों तक पहुंच गईं। इस पुस्तक का नाम है 'अंकल टॉम्स केबिन' अर्थात्—'टामकाका की कुटिया'। इस पुस्तक ने हजारों-लाखों ही आदमियों को रुलाया और हजारों ही आदमियों को गुलामी की प्रथा का घोर विरोधी बना दिया। औरतें बर्तन साफ करते समय आपस में बातचीत करतीं—"बहन, तुमने 'टाम काका की कुटिया' पढ़ी है? बड़ी हृदयवेधक है!" मजदूर बोझा ढोते समय कहते—"बड़ी भयंकर पुस्तक है! पढ़कर तबियत दहल जाती है।" क्या सड़क पर, क्या बाजार में और क्या होटलों में, सर्वत्र इसी की चर्चा थी। इस किताब ने लोगों के हृदय में आग-सी लगा दी। वे दक्षिणी रियासतों से, जहां गुलामी की प्रथा प्रचलित थी, घोर घृणा करने लगे। दरअसल इस एक पुस्तक ने गुलामी-प्रथा के उच्छेद के लिए जो कार्य किया, वह किसी पुस्तक ने अभी तक नहीं किया था। उत्तरी और दक्षिणी रियासतों में इसने युद्ध करा दिया और गुलामी-प्रथा को जड़-मूल से नष्ट ही करा दिया। सन् १८६३ में जब श्रीमती स्टो अमरीका के पार्लामेंट-भवन में गईं और उनका परिचय प्रेसीडेन्ट लिंकन से कराया गया तो लिंकन ने, जो कद के काफी ऊंचे थे, श्रीमती स्टो से हाथ मिलाते हुए कहा—"क्या इसी छोटी-सी महिला ने वह महान युद्ध करा दिया?"

हैरियट एलिजाबेथ का, जिनका नाम आगे चलकर स्टो हुआ था, जन्म १४ जून १८११ को संयुक्त राज्य अमरीका के लिचफील्ड

नामक स्थान में हुआ था। ये अपने माता-पिता की सातवीं सन्तान थीं। हैरियट को अधिक दिनों तक मातृस्नेह प्राप्त नहीं हुआ। जब ये कुल चार वर्ष की थीं, इनकी पूज्य माता का स्वर्गवास हो गया। इसलिए इनके लालन-पालन का भार पड़ा इनकी बड़ी बहन कैथेराइन पर, जो उस समय पन्द्रह वर्ष की थीं। कैथेराइन सुशिक्षित थीं और उन्होंने एक स्कूल भी कायम कर रखा था। हैरियट को उन्होंने अपने स्कूल में ही पढ़ाया और आगे चलकर इसी स्कूल में यह छोटी बहन भी अध्यापिका बन गई। सन् १८२३ में हैरियट के पिताजी एक धार्मिक विद्यालय के प्रधान बनकर सिनसिनाती नामक नगर को गये और उनके साथ वे दोनों बहनें भी गईं। बड़ी बहन का विचार एक कन्या-महाविद्यालय कायम करने का था और हैरियट अपनी बहन की सहायक के रूप में वहां गई थीं। विद्यालय के साहित्यिक जीवन में हैरियट खूब भाग लेती थीं। स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं में छोटे-छोटे लेख भी लिखती थीं। दो-चार कहानियां और स्केच भी उसने लिखे थे और अपनी जीजी की मदद से उसने भूगोल की एक किताब भी बना डाली थी। पिताजी के धार्मिक विद्यालय में एक अध्यापक थे, जिनका नाम था कैलबिन ऐलिस स्टो। ६ जनवरी सन् १८३६ को हैरियट का विवाह मि० स्टो के साथ हुआ और तबसे वे श्रीमती स्टो के नाम से प्रख्यात हुईं। दुर्भाग्यवश मि० स्टो का स्वास्थ्य खराब रहा करता था और आमदनी भी उनकी थोड़ी ही थी। श्रीमती स्टो को बहुत चिन्ता-ग्रस्त रहना पड़ता था और कभी-कभी खाने-पीने का भी कष्ट हो जाता था, इसलिए पतिव्रता स्टो को लेख लिखकर कुछ कमाना पड़ता था। इस प्रकार अपने पति की आर्थिक सहायता भी वे करती थीं। सन् १८४३ में 'मे फ़्लावर' नाम से उनकी कहानियों और स्केचों का संग्रह प्रकाशित हुआ। सन् १८५२ में उनकी अमर पुस्तक 'टाम काका-की कुटिया' छपकर जनता के सम्मुख आई। किन-किन कठिनाइयों में श्रीमती स्टो को अपना साहित्यिक कार्य करना पड़ता था, इसका अन्दाज निम्न-लिखित बातों से लग सकता है :

उन्हें घर-गृहस्थी का सारा काम—बर्तन साफ करना, कपड़े धोना, कपड़े सीना, भोजन बनाना, सामान ठीक-ठिकाने रखना इत्यादि--खुद ही करना पड़ता था। खुद ही वे किवाड़ों पर रंग करती थीं, तकिये, गिलाफ, रजाई सीती थीं। और तो और, पति के जूतों की भी सिलाई वे खुद ही कर लेती थीं। एक बार वे अपने लिए कोई कपड़ा काट रही थीं कि उनकी एक पड़ोसिन ने कहा, "कोई नमूना भी तुम्हारे सामने है कि योंही कपड़ा काटती जाती हो ?" श्रीमती स्टो ने उत्तर दिया, "बहन, मेरा खयाल है कि अपनी शक्ल तो मैं जानती ही हूं।" पतिदेव हेब्रू, ग्रीक, लेटिन तथा अरबी के ग्रंथ पढ़ा करते थे और विद्यालय में बाइबिल पढ़ाया करते थे। अपनी पत्नी से प्रसन्न होकर एक बार उन्होंने कहा था--"तुम्हारी जैसी स्त्री दुनिया में थोड़े ही मिल सकती हैं। भला, कौन औरत ऐसी होगी, जो इतनी परिश्रमशील हो और इतनी किफायतशार, जिसकी भाषणशक्ति इतनी प्रबल हो ; पर जो कभी डांट-फटकार न बतलावे, जिसमें इतना माधुर्य हो और साथ-ही-साथ इतनी दृढ़ता।"

इसका उत्तर श्रीमती स्टो ने बड़ी मधुरतापूर्वक दिया, "अगर तुम पहले से ही मेरे प्रिय पति न होते तो जरूर ही तुम्हारे गुणों पर मुग्ध होकर मैं तुम्हारे प्रेम में फंस गई होती !"

श्रीमती स्टो में मातृत्व काफी था। बच्चों की सेवा-शुश्रूषा करते हुए अपने जीवन को खपा देने में वे अपना गौरव मानती थीं। स्कूल के दिनों की अपनी एक सहेली को उन्होंने चिट्ठी में लिखा था, "बहन, मुझे तो अपने छः बच्चों की देख-भाल और उनका पालन-पोषण करने में बड़ा आनन्द आता है। इच्छा होती है कि इसी प्रिय कार्य को करते-करते बूढ़ी हो जाऊं, अपना जीवन बिता दूं। मैं चाहती हूं कि कभी तुम यहां आकर इन बच्चों के बीच में मुझे देखो। मेरी सारी चिन्ताओं और विचारों का वे केन्द्र हैं और यदि वे कहीं दूसरी जगह चले जायं तो मेरे जीवन के लिए रह ही क्या जाय ? ये बच्चे ही मेरे कार्यक्षेत्र हैं और डरती-कांपती हुई इन्हीं की मैं सेवा किया करती हूं।"

सन् १८५९ में सिनसिनाती नगर में हैजे का प्रकोप हुआ और एक दिन में ही १५० आदमियों की मृत्यु हो गई, जिनमें एक बच्चा श्रीमती स्टो का भी था। पतिदेव स्वास्थ्य-सुधार के लिए दूर गये हुए थे और वे बेचारी अकेली ही बच्चों की देखभाल कर रही थीं। प्रेमी माता के दुःख का अनुमान ही किया जा सकता है। जिन दिनों श्रीमती स्टो पुत्र-शोक के वज्राघात से पीड़ित थीं और जिन दिनों उनकी गोद का बच्चा दूध पीता था, उन्हीं दिनो मातृ-हृदय की असीम करुणा से प्रेरित होकर उन्होंने इस अमर पुस्तक की रचना की थी। पुस्तक के फार्म जब छप-छप कर आते थे तो वे उन्हें अपने पति और बच्चों को सुनाती थीं। सब बैठकर एक साथ पवित्र आंसू बहाते थे। कोई आश्चर्य की बात नहीं कि 'टाम काका की कुटिया' ने आगे चलकर असंख्य पाठक-पाठिकाओं को रुलाया। पुस्तक की सफलता का अन्दाज इसी से लगाया जा सकता है कि पुस्तक के छपते ही उसकी तीन लाख प्रतियां एक साथ बिक गईं। आठ प्रेस इसी अकेली पुस्तक के छापने में लगे हुए थे। अमरीका के प्रसिद्ध-लेखकों और कवियों ने श्रीमती स्टो के पास बधाई की चिट्ठियां भेजीं। इंगलैंड के सुप्रसिद्ध लेखक डिकिन्स, मेकाले, किंग्सले, लार्ड कार्लाइल इत्यादि ने उनका अभिनन्दन किया। इंगलैंड में पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि एक साल में इसकी डेढ़ लाख प्रतियां बिक गईं। पेरिस में इसके आधार पर एक ड्रामा लिखा गया और खेला गया। यह आठ अंकों में समाप्त हुआ था और जनता इसे रात के डेढ़ बजे तक देखती रही और रोती रही। फ्रेंच, जर्मन, रशियन, जापानी, चीनी, हिन्दी इत्यादि भाषाओं में इसके अनुवाद हुए। पुस्तक के प्रकाशित होने के चार महीने बाद श्रीमती स्टो को १० हजार डालर (तीस हजार रुपये) का एक चेक मिला और तब उन्होंने अपने पति को लेकर पहली बार यूरोप-यात्रा की। यूरोप से लौटकर उन्होंने एक दूसरी पुस्तक लिखी 'टाम काका की कुटिया की कुंजी'। इस ग्रंथ में उन्होंने अकाट्य प्रमाणों द्वारा अपनी कहानी की सत्यता सिद्ध की थी। श्रीमती स्टो ने और भी कई ग्रंथ लिखे, जिनमें मुख्य

ये हैं १. श्रीमती ड्रेड, ए टेल आव दि डिसमल स्वैम्प, दि मिनिस्टर्स वूइंग।

उन्होंने धार्मिक कविताओं का एक संग्रह भी प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त वे 'अटलांटिक मंथली', 'इण्डिपेण्डेण्ट', 'क्रिश्चियन यूनियन, इत्यादि पत्रों में लेख भी लिखा करती थीं। उनके भाई इन पत्रों में सहायक सम्पादक या सम्पादक का कार्य करते थे और इन दोनों भाई-बहनों की साहित्य-सेवा वास्तव में आदर्श थी। सन् १८६३ में पतिदेव ने अपने अध्यापकी के कार्य से छुट्टी ले ली। श्रीमती स्टो का एक पुत्र कैप्टेन फ्रेडरिक बीचर स्टो युद्ध में वीरतापूर्वक लड़ा था और बहुत घायल हो गया था। प्रेमी माता ने अपने पुत्र के स्वास्थ्य-लाभ के लिए फ्लोरिडा में एक कोठी खरीदी और वहां उनके साथ रहीं। सन् १८८६ में श्रीमती स्टो के पति का देहान्त हो गया। इसके बाद दस वर्ष तक वे जीवित रहीं; पर अब इस सती-साध्वी विधवा का जीवन सर्वथा एकान्तमय था। पहली जुलाई सन् १८९६ को ८५ वर्ष की उम्र में वे स्वर्ग सिधारीं। अण्डोवर नामक स्थान में पति की समाधि के पास ही उनकी समाधि बनी हुई है।

वह दिन हमें अच्छी तरह याद है, जब रेल में बैठे-बैठे हमने 'टाम काका की कुटिया' पढ़ी थी और पुस्तक से मुंह ढककर आंसू बहाये थे, जिससे साथ के यात्री रोने का कारण न पूछ बैठें। यदि जीवन में कभी अमरीका-यात्रा का अवसर मिला तो दो स्थानों की तीर्थ-यात्रा हम अवश्य करना चाहते हैं, एक तो एमर्सन की समाधि और दूसरे इस आदर्श दम्पति श्रीमान् और श्रीमती स्टो की समाधि।

वह सौभाग्यपूर्ण दिन कब आवेगा, जब हमारी मातृभाषा में भी श्रीमती हैरियट एलिज़बेथ स्टो-जैसी लेखिकाएं उत्पन्न होंगी?

: ७ :

ग्रेस-डार्लिङ्ग

सत्यवती मल्लिक

उत्तरी अम्बरलैंड के तट से लगभग दो मील की दूरी पर द्वीप-मालाओं का एक समूह समुद्र में वेग से उमड़ते हुए फेन के सामने सिर उठाए ऐसे जान पड़ता था, मानों प्राचीन युग के किसी देव ने अत्यन्त क्रोध में आकर उन्हें उठाकर उत्तरी समुद्र में जा पटका हो, जहां वे सदियों से वायु और लहरों में टकराती रही हों।

भूगोल के चित्र में ये फार्न द्वीप (Farne Islands) के नाम से प्रसिद्ध हैं और इतिहास में इनके सम्बन्ध में दो कथाएं कही गई हैं। पहली प्राचीन कथा इस प्रकार है कि संत कथबर्ट (St.Cuthbert) कैसे सांसारिक जीवन के झमेलों से तंग आकर उपरोक्त द्वीप-समूह में उपासना एवं उपवास के निमित्त आ बसे, पादरी बने और कैसे वे इन नितान्त एकाकी कन्दराओं में अपने को मृत्यु के समक्ष पा भाग गए।

दूसरी कथा एक कुमारी कन्या के विषय में है जो उन्नीसवीं शताब्दी में अपने माता-पिता के साथ लौंग स्टोन (Long Stone) द्वीप-समूह के प्रकाश-स्तम्भ में रहती थी और जो एक ही दिन के वीरता-पूर्ण कार्य द्वारा ऐसी प्रसिद्ध हो गई कि लौंग स्टोन द्वीप-समूह के सब चिन्ह मिट जाने पर भी चिरकाल तक इस वीर कन्या ग्रेस-डार्लिंग का नाम स्मरण किया जायगा।

ग्रेस-डार्लिंग का जन्म २४ नवम्बर १८१५ को उत्तरी अम्बरलैंड के बाम्बोरो (Bamborough) नामक गांव में हुआ था। यह अपने

पितौ विलियम डार्लिंग की सातवीं सन्तान थी। उसी वर्ष इसके पिता लौंग स्टोन द्वीप-समूह में प्रकाश स्तम्भ के संचालक नियुक्त हुए और अपनी इस नन्ही बच्ची तथा स्त्री के साथ वहां चले गए। विलियम डार्लिंग इस पद के लिए सर्वथा उपयुक्त थे। विश्वासपात्रता और स्फूर्ति के साथ उन्होंने पहले भी दस वर्ष अपने पिता के साथ इसी कार्य में सहयोग देते हुए ओल्ड ब्राउन्समेन (Old Brownsmen) नामक प्रकाश-स्तम्भ में व्यतीत किये थे। वे जल की प्रत्येक लहर से परिचित एवं सागर के उन सभी उतार-चढावों को पहचाहते थे, जो प्राय: द्वीप-समूहों तक को बहा ले जाते हैं। इसी कारण अधिकारियों को उनकी योग्यता पर पूर्ण विश्वास था।

द्वीप-समूह के उस एकाकी घर में ग्रेस को कभी अकेलापन नहीं अखरा। युवती कन्या हो जाने पर भी वहां उदास होने का समय ही न मिलता था। सदैव कुछ-न-कुछ काम पड़ा ही रहता। पिताजी ने उसके लिए ऐसी दिनचर्य्या बना दी थी। वे स्वंय उसे पढ़ना-लिखना सिखाते और अपने छोटे-से निजी पुस्तकालय में से कौन-कौन सी पुस्तकें उसके विशेष पढ़ने योग्य हैं, इसका निर्देश भी कर देते थे। इसके अतिरिक्त दिन में घर के निम्न कार्य्यों की शिक्षा भी उसे मां से लेनी होती थी, जैसे प्रकाशस्तम्भ के सभी कमरों को साफ-सुथरा और ढंग से रखना, रसोई बनाना, बुनना-कातना और सीना-पिरोना। सन्ध्या समय जब सूर्यास्त की उज्ज्वल किरणें शान्त समुद्र पर पड़ने लगतीं तो ग्रेस सदैव बाहर खुले में निकल जाती। लौंगस्टोन द्वीप स्वर्ग नहीं तो प्रकृति के पुजारियों के लिए कम आकर्षक न था। द्वीप के चारों ओर पक्षियों के समूह मधुर कलरव करते रहते, पिता-पुत्री मुग्ध हो सुनते और उन विभिन्न पंखधारियों के साथ ऐसे हिलमिल जाते कि अपना बहुत-सा समय उनके अंडों, सुन्दर पंखों और समुद्र में से शंख-सीपियों को एकत्र करने में व्यतीत कर देते। लहरें आकर जब चली जातीं तो ग्रेस रपटीले किनारे पर सुन्दर, रंगीन, भांति-भांति की सीपियों और शंखों को लेने के लिए कूद पड़ती, ताकि वह उन्हें

चुन-चुनकर अपने अजायबघर में रख सके। इसी प्रकार कितने ही मधुर क्षण बीत गए; किन्तु ग्रेस को सबसे अच्छे वे दिन लगते थे, जब उसके पिता उसे अपनी छोटी नाव में आसपास के द्वीपों की ओर ले जाते। कभी-कभी यह यात्रा फार्नद्वीप समूह की ओर होती, जहां ग्रेस प्रायः वहां के प्राचीन गिरजाघर को देखती और उसके समीप ही ऊंचे मीनार के चरणों तले बैठ अपने पिता से पन्द्रहवीं शताब्दी के संतों द्वारा रचित इस जादू से निर्मित मीनार के विषय में कहानियां सुना करती। संग्रहालय के लिए नई-नई वस्तुएं एकत्र करके जब दोनों लौटते तो ग्रेस फुर्ती से सीढ़ियों पर चढ़ जाती और पिता के आने के लिए बत्ती से राह दिखाती।

रात्रि को भोजन के उपरान्त बहुधा एक घंटा कवि मिल्टन की कविता अथवा अन्य कोई अध्याय ऊंची आवाज़ से पढ़कर सुनाने में आनन्द से कटता, फिर विलियम डार्लिंग जो काव्य की भांति ही संगीत के भी अत्यन्त प्रेमी थे, अपना वायलिन उठा लाते और मस्त होकर बजाने लगते।

किन्तु शीतकाल में रहन-सहन कुछ दूसरी ही हो जाती। तेज अंधड़ निर्जन द्वीप के चारों ओर चिंघाड़ता हुआ-सा लहरों को ऐसे क्रोध से पटकता कि उनके थपेड़े प्रकाशस्तम्भ की खिड़कियों से आकर वेग से टकराते और बार-बार उन्हें धुंधला कर देते। तब चाम की पोशाक पहने विलियम प्रायः सीढ़ियों पर बर्फ़ की तहों और कुहरे को बत्ती पर से साफ करने के लिए दौड़ते। इस जोखिम भरे कार्य को ग्रेस उत्सुकता से देखती रहती—कैसे उसका पिता जंगले के सहारे लटक रहा है और कैसे प्रबल वायु बार-बार उसे झकझोरकर नीचे की चट्टानों पर पटक देना चाहती है! रात्रि में सोते हुए प्रायः वह तूफ़ान में से एक दर्दभरी आवाज़-सी सुनती, मानों कोई सहायता के लिए उसे पुकार रहा हो। वह चौंक पड़ती। बहुधा उसका भय निरर्थक होता, कभी-कभी वह सत्य भी हो जाता। प्रातःकाल जब तूफ़ान शान्त होता तो वह बरामदे में से देखती कि एक बड़ा सा जहाज नोकीली शिलाओं के भयावने जबड़ों में टुकड़े-टुकड़े हो रहा है।

अपनी जन्मभूमि की ओर ग्रेस बहुत कम जा सकती थी। उसके अन्य भाई-बहन ही अधिकतर प्रकाशस्तम्भ में मिलने आया करते थे, विशेषतया बड़े दिनों की छुट्टियों में। वह छोटा-सा एकाकी घर खूब सजाया जाता। सारा परिवार आनन्द के मारे अपने पिता को घेर लेता और उनकी हंसी-खुशी तथा किलकारियों की ध्वनि से पत्थर की दीवारें तक गूंज उठतीं। पुनः वे सब मिलकर जब ऊंचे स्वर से गीत गाते तो ऐसा जान पड़ता, मानों वह छोटा-सा एकान्त प्रकाश-स्तम्भ धरती पर बसा हुआ कोई भारी महल हो।

ऋतुओं के परिवर्तित होने के साथ-ही-साथ ग्रेस का सुलभ बाल्य-काल भी मुग्ध यौवन में परिणत हो गया। तब नियति ने जहाज टूट जाने के बहाने ग्रेस के जीवन की प्रसिद्धि एवं कीर्ति फैलाने के हेतु अद्भुत ताना-बाना बुना। छठी सितम्बर १८३८ की रात्रि को उत्तरी सागर में भीषण अन्धड़ और तूफ़ान उठा। कुछ दूरी पर ३०० टन का एक छोटा सा पैसिंजर स्टीमर भयावनी लहरों से संघर्ष कर रहा था। हल (Hull) से डंडी (Dundee) तक ले जाने के लिए चालकों, पचास यात्रियों और बहुमूल्य सामान के साथ वह चला था; परन्तु यात्रा की प्रथम रात्रि में ही दुर्भाग्य आरम्भ हो गया। चलने के समय, पहले ही उसका इंजन कुछ मरम्मत के योग्य था और अभी तनिक दूर भी न पहुंच पाया कि तूफान शुरू हो गया। कमजोर इंजन अब बिल्कुल खराब और जहाज अनियंत्रित-सा हो गया। कप्तान ने भरसक चेष्टा की कि किसी प्रकार उसे घुमाकर खुले गहरे समुद्र में ला खड़ा करे; किन्तु कुछ न हो सका और जहाज उत्तरोतर दूर-ही-दूर विपरीत दिशा में बहता गया।

प्रत्येक भयावनी लहर अपने साथ जहाज को वेग से ऊपर उठाती और फुफकारती हुई, कलाबाजी देकर उसे मानों भयावह खड्डों में फेंक जाती। डेक के नीचे भयभीत यात्री भेड़-बकरियों के झुंडों की भांति जहाज के एक सिरे से दूसरे सिरे तक इधर-उधर लुढ़क रहे थे। वे सभी त्रस्त थे, किन्तु कप्तान और मल्लाह तो आनेवाली महाविनाश-

कारी स्थिति का भी सामना कर रहे थे। अन्त हवा के वेगवान झकोरों की कृपा से वे किसी तरह शीघ्र ही उन नोकीली चट्टानों के पास पहुंच गये। अकस्मात् एक चीत्कार आई—"खतरे से बचाओ।" साथ ही फार्न द्वीप से क्षण भर प्रकाश फैला और अन्धकार में विलीन हो गया। बेचारा कप्तान जहाज को इन शिलासमूहों से हटाकर प्रमुख द्वीप की ओर ले जाने के लिए गहन सागर में से होकर बचाने की चेष्टा में लगा था कि एक भयानक लहर ने जोर से धड़ाके के साथ जहाज को उठाया और नोकीली चट्टानों के ऊपर पटक दिया। आश्चर्य और भय से घबराये हुए यात्री डेक के ऊपर आ खड़े हुए। एक छोटी किश्ती को तुरन्त उतारा गया। कुल नौ सौभाग्यशाली व्यक्ति उसमें सवार हो सके और उसी प्रातःकाल उन्हें रस्से डालकर बचा लिया गया; किन्तु शेष असहाय व्यक्ति अपने भाग्य को कोस रहे थे और अपने जीवन के बचाव के लिए कहीं आश्रय खोज रहे थे। कुछ ने बचाव के लिए तख्ते उठाये, कोई जहाज के टूटे हुए भागों को लेकर सोच रहे थे कि कहां जाएं? अब तो केवल भाग्य के हाथों में उनके प्राण थे और एकमात्र वही मानों उनके भविष्य का निश्चय कर रहा था। इसी समय पुनः भयानक आवाज के साथ भूखे हिंसक पशु की भांति एक भारी क्रुद्ध लहर अपने साथ जहाज को बहुत दूर तक उठा ले गई और पूरे जोर के साथ नोकीली चट्टानों पर जा पटका। जहाज क्षण-भर में चूर-चूर हो गया। कुछ हिस्सा वहीं द्वीप पर रहा, कुछ समुद्र में विलीन हो गया। इस भाग के सभी यात्री और कप्तान तथा उसकी स्त्री डूब गए। केवले बचे वे नौ व्यक्ति, जो चट्टान के ऊपर जहाज के पूर्वी भाग से चिपटे हुए थे।

तूफान अभी तक उसी प्रकार चल रहा था। लगभग तीन बजे का समय हो गया। मृत्यु के-से भयावने सन्नाटे में उन बेचारों को कहीं तिनके भर का आश्रय नहीं दिखाई देता था। लहर के ऊपर लहर आती और उनकी वस्त्रों को चिथड़े कर डालती। थपेड़ों के मारे उनकी आंखें अन्धी हो रही थीं। इन यात्रियों में एक स्त्री भी थी,

जिसकी गोद में दो त्रस्त बच्चे थे। वह उत्सुकतापूर्वक बार-बार अन्धकार की ओर सहायता के लिए दूर क्षितिज तक देखती, पर कहीं से सहायता आती दिखाई न देती।

अन्त में धुंधला प्रकाश प्रभात के समय कुछ साफ हुआ और इधर दूरबीन से विलियम डार्लिंग ने प्रकाशस्तम्भ से करीब आध मील की दूरी पर स्टीमर की ध्वंस-लीला देखी। धुन्धले में उस समय तो उसे कहीं जीवन के चिन्ह दृष्टिगोचर न हुए; किन्तु कहीं सात बजे जब और उजाला हुआ तो जान पड़ा कि कुछ प्राणी हैं और बचाए जा सकते हैं। उन्होंने ग्रेस को जगाकर वह दृश्य दिखलाया। ग्रेस की तीक्ष्ण दृष्टि ने पिता के विचारों को पुष्ट किया, "वहां कुछ व्यक्ति चट्टानों से चिपटे हुए हैं। क्या वे बचाए जा सकते हैं?" ऐसी विकट परिस्थिति में कुछ भी चेष्टा करना विलियम डार्लिंग को पागलपन लग रहा था। वास्तव में ऐसी तेज लहरों और तूफान में अकेले आदमी के लिए वहां जाना और इतने व्यक्तियों को नाव में इस ओर लाना असम्भव-सी बात थी। तब नम्रतापूर्वक ग्रेस पिता की ओर झुकी और साथ जाने के लिए प्रार्थना की। निस्सन्देह ऐसे तूफानी मौसम में ग्रेस ने इससे पूर्व कभी पतवार नहीं उठाई थी; किन्तु इस समय वह दृढ़ विश्वास के साथ तैयार हो गई। अपनी आंखों के सामने बिना सहायता पहुंचाये इतने प्राणियों का मृत्यु के मुख में चला जाना ग्रेस सहन भी कैसे कर सकती थी!

"चलते हैं पिताजी? भगवान सफलता प्रदान करेंगे।" पिता ने स्वीकृति दे दी। पिता और ग्रेस दोनों शीघ्र ही सीढ़ियों से उतरे और छोटी नाव को लाने के लिए ठीक करने लगे।

लहर के उतर जाने पर, क्षण भर प्रतीक्षा करके वे नाव में बैठे, आगे बढ़े और डांडे लेकर दोनों खेने लगे। दूसरी भीषण लहर आई और नाव को ऊपर तक वेग से अपने साथ ले गई और पुनः धड़ाम-से नीचे गह्वर में छोड़ दिया।

इस प्रकार यह खतरनाक यात्रा आरम्भ हो गई। इधर पीछे

अकेली श्रीमती डार्लिंग उन्हें आगे बढ़ते देखने के लिए प्रकाश-स्तम्भ की सीढ़ियों पर चढ़ने लगीं। अपने प्राणप्यारों का इस प्रकार साक्षात् मृत्यु से लड़ना उन्हें असहनीय हो उठा और वे फर्श पर मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। इतने में ग्रेस और उसके पिता चट्टानों के समीप जा पहुंचे। दुःख-भरे चीत्कार ने अकस्मात् आल्हाद की ध्वनि में परिणत होकर उन्हें अत्यधिक स्फूर्ति एवं आशा से भर दिया। अन्त में वे नोकीली चट्टानों के समीप जाकर रुके। अभी एक और कठिन कार्य शेष था। विलियम नाव से कूदकर किनारे पर आ गए और ग्रेस से कहा कि वह नाव को तनिक पीछे समुद्र में ले जाए, ताकि वह कहीं लहरों के धक्कों से टूट न जाए। वे स्वयं शीघ्र ही पीड़ित व्यक्तियों के पास पहुंचे और उन्हें नीचे ले आए। इतने में क्षणभर के संकेत से ग्रेस नाव को समीप लाई। चार व्यक्ति तथा वह दुःखी स्त्री अपने दोनों शिशुओं की (जोकि शीत के मारे चल बसे थे) मृत देहों को समुद में फेंककर नाव पर उतार लिए गये।

कितनी ही देर भीषण लहरों से संघर्ष करने के बाद नाव प्रकाश-स्तम्भ के पास आई और ग्रेस एवं उसकी मां उन अर्धमूर्च्छित प्राणियों को सचेत करने और बचाने के प्रयत्न में लग गईं। विलियम उनमें से दो व्यक्तियों को साथ लेकर पुनः चट्टानों की ओर गए और टूटे हुए जहाज को खींच लाए। एक घंटे बाद छः मील की दूरी से एक रक्षक नाव अंबरलैंड की ओर से सात मल्लाहों के साथ उन चट्टानों के पास पता लगाने के लिए भेजी गई और उसने देखा कि वे व्यक्ति पहले ही बचा लिए गये हैं। ज्वार-भाटा वैसा ही चलता रहा। उन यात्रियों को दो दिन तक वहीं प्रकाश-स्तम्भ में रहना पड़ा। जिस समय ग्रेस डार्लिंग के वीरतापूर्ण कार्य की सूचना लोगों को मिली, प्रत्येक व्यक्ति उसकी सराहना करने लगा। ब्रिटिश द्वीपसमूह के सभी भागों से बधाइयां और पुरस्कार बरस पड़े। सरकार द्वारा पचास और जनता की ओर से १५० पौंड उसे भेंट किये गए। कई स्वर्ण-पदक भी ग्रेस और उसके पिता को रायल ह्यूमन सोसाइटी (Royal

Humane Society) की ओर से दिए गये। अनेक संस्थाओं ने धन्यवाद और मानसूचक सभाएं की। प्रत्येक स्थान से उनके पास ग्रेस के हस्ताक्षरों और उसके केश-गुच्छों के लिए आग्रह की चिट्ठियां आने लगीं। कविजनों ने उसके प्रति गीत रचे। चित्रकारों ने चित्र लेने की उत्कंठा प्रकट की। सरकस कम्पनी उसे अपने यहां कार्य करने के लिए आमंत्रित करने लगी। थियेटर के मैनेजर ने उसे बीस पौण्ड केवल एक रात के लिए देने चाहे, यदि वह एक बार उसी प्रकार नाव पर बैठकर जाती हुई लोगों को दिखाई दे। ये सब बातें एकबारगी उत्तेजित कर देनेवाली और सिर पर चढ़ा देनेवाली थीं; किन्तु ग्रेस ऐसी बुद्धिमती और गम्भीर प्रकृति वाली कन्या थी कि वह प्रकाश-स्तम्भ को छोड़कर कहीं नहीं गई। केवल उत्तरीय अम्बरलैंड के ड्यूक की संरक्षकता में ही कार्य करती रही।

उसके विवाह-सम्बन्धी अनेक प्रस्तावों और पदों की नियुक्ति आदि के उत्तर देने का कार्यभार स्वयं ड्यूक ने अपने ऊपर ले लिया।

किन्तु दुर्भाग्य से ग्रेस अपनी कीर्ति अथवा आनन्द का उपभोग अधिक समय तक न कर सकी। ठंड लग जाने के कारण उसका स्वास्थ्य निरंतर बिगड़ता ही गया और अन्त में उसने यक्ष्मा का रूप धारण कर लिया। डाक्टरों ने वायु-परिवर्तन की सम्मति दी। वह कुछ काल के लिए अच्छी भी हो गई; किन्तु दशा एकाएक फिर बिगड़ गई और उसे अपनी जन्म-भूमि बाम्बोरो में लाया गया, जहां उसने केवल सत्ताईस वर्ष की अवस्था में माता-पिता की गोद में २० अक्तूबर १८४२ को अन्तिम सांस ली।

: ८ :

मेडम क्यूरी

सत्यवती मल्लिक

मई ७, १९०६

"मेरे पीरी, मैं निरन्तर तुम्हारा ही ध्यान करती रहती हूं। सिर फटा जाता है, अक़्ल हैरान है। अब तुम्हारे बिना दिन काटने होंगे! अब अपनी मुस्कराहट किसके सामने प्रकट करूंगी, ये बातें मेरी समझ में नहीं आतीं!

"पिछले दो दिनों से वृक्षों में नई कोपलें आ गई हैं, बगीचे ने सुन्दर रूप धारण कर लिया है। आज अपनी दोनों बालिकाओं को उपवन में देखा। अगर तुम आज होते तो अपनी लड़कियों की सुन्दरता पर मुग्ध हो जाते और मुझे बुलाकर दिखलाते कि अमुक-अमुक पौधों में फूल फूल रहे हैं। आज तुम्हारी समाधि पर 'पीरी क्यूरी' ये शब्द क्यों लिखे गये हैं? आज प्राकृतिक सौन्दर्य मेरे मन के लिए कष्टदायक हो रहा है!

मई ११—

"मेरे पीरी, आज नींद कुछ ठीक आई, चित्त थोड़ा-सा शान्त था। अभी उठे-उठे पन्द्रह मिनट भी नहीं हुए और अब मेरा मन जंगली जानवर की तरह चिल्लाने को होता है।

मई १४--

"मेरे छोटे पीरी ! लेबरनम (Laburnum) पौधे में फूल आ गये हैं और दूसरे पौधे भी पुष्पित होने को हैं। तुम्हें कितनी खुशी इन पौधों को देखकर होती; पर न अब मुझे सूरज की धूप पसन्द है और न फूलों का खिलना। उनके दर्शनमात्र से मुझे कष्ट होता है। अब मुझे अन्धकार प्रिय लगता है--वैसा ही अन्धकार, जैसा तुम्हारी मृत्यु के दिन था। यदि मैं अच्छे मौसम को घृणा करने लगी तो इसका कारण यह है कि मेरी प्यारी लड़कियों के लिए सुन्दर ऋतु की आवश्यकता है।

मई २२--

"आज सारे दिन प्रयोगशाला में काम करती रही। और कर ही क्या सकती हूं ? यहीं अपनी प्रयोगशाला में अन्य स्थानों की अपेक्षा मेरी तबियत ठीक रहती है। सम्भवतः वैज्ञानिक कार्य के सिवा और किसी बात से मुझे हार्दिक प्रसन्नता नहीं हो सकती। पर वैज्ञानिक अनुसंधान की सफलता से भी मुझे आनन्द नहीं मिलेगा; क्योंकि तुम्हारे बिना उस आनन्द का अनुभव मेरे लिए असम्भव होगा।

जून १०--

"हर चीज दुःखदायी और अन्धकारमय है। हां ! जिन्दगी के गोरख-धंधों से मुझे इतनी भी फुर्सत नहीं मिलती कि मैं शांतिपूर्वक अपने पीरी का ध्यान कर सकूं।"

ये हैं वैज्ञानिक-जगत की उस अमर साधिका मेडम क्यूरी की डायरी के कुछ पन्ने जो उन्होंने अपने पति के स्वर्गवास के बाद लिखे थे। *

रेडियम देखने अथवा रसायन-शास्त्र के विषय में जिनपर मेडम क्यूरी को दो बार 'नोबुल पुरस्कार' मिला था, भले ही ज्ञान न हो; किन्तु सुन्दर प्रवाहमय उपन्यास की भांति रोचक उनके जीवन-चरित के पन्ने उलटते हुए, उपरोक्त शब्द किसके हृदय को न झकझोर

*श्री पीरी क्यूरी का देहान्त १६ अप्रेल १९०६ को एक घोड़ागाड़ी से पिचकर हो गया था।

डालेंगे ? वह महत्वपूर्ण जीवन-धारा किन-किन बृहन् चट्टानों से टकराती हुई यहां तक पहुंची कि ऐसा करुण अध्याय आ उपस्थित हुआ !

वह छोटी बच्ची मान्या सुयोग्य माता और मेधावी पिता की अन्तिम संतान थी, जिसने कुल चार ही वर्ष की अवस्था में बुद्धि की प्रखरता का परिचय इस प्रकार दिया था—

"गए दिन माता-पिता बड़ी बहन ब्रोन्या को पढ़ा रहे थे। ब्रोन्या को धीरे-धीरे पढ़ते देख मान्या ने किताब हाथों से छीन ली और स्वयं खटाखट पढ़ने लगी। सब दंग रह गए, सन्नाटा छा गया। क्योंकि उन्हें तनिक भी पता नहीं था कि मान्या बहन से चुपके-चुपके पढ़ना सीख गई है। मां-बाप को चकित देख कर मान्या डर गई, उसने बहन पर दृष्टि डाली और फिर जोर से रोना शुरू किया, "माफ करो ! अम्मा, मेरा कोई क़सूर नहीं। ब्रोन्या का भी नहीं। पुस्तक आसान थी, इसी से पढ़ गई।"

असाधारण बच्चे आरम्भ से ही घर के वातावरण से प्रेरणा ग्रहण करते रहते हैं। मान्या के जीवन में भी निम्न वस्तुएं प्रेरणा-दायक बनीं :

एक तो पोलैंड का ज़ारशाही के अधीन हो सभी प्रकार से तुच्छ समझा जाना, दूसरे पिता की विद्वत्ता एवं संस्कृति। पिता की मेज़ पर पड़े, चमकते, वैज्ञानिक यंत्र उसके लिए घर-भर में सबसे अधिक आकर्षक वस्तु थे, जिन्हें वह प्रायः उचक-उचककर देखा करती और उनके नाम रट लेती। शायद वह इस प्रतीक्षा में थी कि कब बड़ी हो और उन्हें हाथ में ले। स्मृति बड़ी तेज थी। घर में उसके मन पर बातों-बातों में ज़ार सिपाही आदि शब्द जम गए। निरन्तर आर्थिक कष्ट सहते-सहते तपेदिक हो गई थी। वह बच्चे-बच्चियों को अलग-अलग रखना पसन्द करती। उस अवस्था में घर का सब कार्य सम्हालते हुए भी उन्होंने बच्चों के बूट तक बनाना सीख लिया था। मान्या मां के साथ रहना चाहती, उनके स्वास्थ्य के लिए प्रार्थनाएं करती, पर एक दिन जब उनकी बड़ी बहन जोशिदा और बाद में मधुर मूर्ति

जननी प्यारे बच्चों को एकटक देखती हुई विदा हो गई तो मान्या के हृदय को असह्य आघात पहुंचा।

वह उसी गिरजे में गई जहां वह मां के साथ निरन्तर जाया करती थी, घुटने टेके; किन्तु अब उसके अल्हड़ मन में श्रद्धा के बदले संघर्ष था :

"वह क्यों झुके, क्यों प्रार्थना करे, जबकि इतने अन्याय से उसकी प्रिय-से-प्रिय वस्तुएं नष्ट कर डाली जाती हैं ?"

इधर पिता पर भाग्य ने दोनों ओर से क्रूरता खेली। तीस हजार रुपये एक चचेरे भाई ने काम में डुबो दिए। उधर ज़ारशाही के सामंतों ने जान-बूझकर उन्हें अध्यापक के पद से हटा दिया। इन सब बातों ने बच्ची मान्या को इतना ध्यानमग्न बना दिया कि पुस्तक पढ़ने बैठती तो चाहे कितना कोलाहल क्यों न हो, उसे पता न चलता।

उसने अपने पिता से जो विज्ञान के अतिरिक्त ग्रीक, लेटिन, अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, आदि सब भाषाएं जानते और इनकी प्रमुख कृतियों का स्वयं पोलिश में अनुवाद करते थे, विश्व-साहित्य की अनुपम कृतियों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। प्रति शनिवार को सायंकाल वे चारों बच्चों को लेकर एकान्त शान्त वातावरण में बैठ जाते। चुने हुए लेख और कविताएं पढ़ते-पढ़ते वृद्ध स्कोल्डवस्की की घनी दाढ़ी भरा चेहरा चमक उठता। मान्या आजन्म इन सायंकालों को भूली नहीं और सदा स्मरण कर कृतज्ञता से भर उठती थी कि कैसे बौद्धिक एवं सांस्कृतिक वातावरण में वह पली है। उसी से अन्य भाई-बहनों की अपेक्षा वह अपने पिता के अद्भुत व्यक्तित्व की ओर अधिक आकर्षित हुई और उनके गहन अन्तर में छिपी घनी उदास छाया एवं कष्टों व कठिनाइयों को पहचान कर उनके समीप होती गई।

कभी-कभी संयम का बांध टूट पड़ता, "वह रुपया छिन न जाता तो तुम लोगों को ऊंची शिक्षा प्राप्त करने मुझे बाहर भेजना था।"...कहते-कहते प्रोफेसर एक ठंडी सांस लेते; पर चारों प्रतिभाशाली बच्चों के चेहरे

मानों धीमे प्रकाश में आशा और उत्सुकता सेभर एक दूसरे से हंस-हंसकर कह उठते, "हम में शक्ति है। हम युवा हैं। अवश्य सफलता प्राप्त करेंगे।"

और वास्तव में वे परिवार के संकट को दूर करने पर तुल गये। निश्चय किया कि अपने-अपने विषयों अर्थात् चिकित्सा, गणित, फ्रेंच आदि में जैसी मिलें, ट्यूशन ले लेंगे। इस प्रकार सब भाई-बहन थोड़े-थोड़े वेतन पर उन सैकड़ों युवक-युवतियों की श्रेणी में जा सम्मिलित हुए जो वार्सा की गलियों में निरन्तर नौकरी की तलाश में फिरते रहते थे।

यह कार्य कितना थकाने वाला और समाज की दृष्टि में कितना अगौरवपूर्ण माना जाता है, मान्या ने सत्रह वर्ष की अवस्था में ही वह जान लिया। वर्षा में, धूप में, भयंकर सर्दी में जबकि मुहल्ले की बुझी बत्तियां वातावरण को भयानक और उदास बना देतीं, सदा उसे लाड़ले बच्चों की प्रतीक्षा करनी पड़ती और लोग समय पर वेतन देना भूल जाते।

"घर में फूल खिलने वाले हैं; पर कुछ नवीनता नहीं। पत्र लिखने तक का वक्त नहीं। हां, आज एक व्यक्ति ट्यूशन के लिए पूछने आया; पर ब्रोन्या ने जब उसे आधा रूबल एक घंटे के लिए कहा तो वह ऐसे भागा, मानों मकान में आग लग गई हो।" ऐसा वे डायरी में लिखती हैं। तो भी छात्रों की संख्या बढ़ी; किन्तु इस पोलिश कन्या की जीवनधारा का दूसरा प्रवाह अन्दर-ही-अन्दर अपने स्वप्नों को पूर्ण करने का प्रयत्न कर रहा था।

इन दिनों प्रायः सभी पोलिश निवासियों के अन्दर राष्ट्रीयता की भावना उग्र रूप से फैल रही थी। प्रत्येक युवक और युवती अपने को अर्पण करना चाहता था। रूस के विरोध में अनेक क्रान्तिदलों की स्थापना हो चुकी थी; किन्तु मान्या ने उन बम फेंकने और हत्या आदि करनेवाले दलों में न पड़ कर एक ऐसे शक्तिशाली सांस्कृतिक दल से सम्बन्ध बना लिया, जिसका लक्ष्य केवल पोलैण्ड के लिए उन्नत,

विकसित एवं सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित करना और उस निर्धन जनता की शिक्षा का विकास करना था, जिसे अधिकारियों ने जान-बूझकर अन्धकार में रख छोड़ा था।

अन्य देशों की भांति वार्सा में भी इन दिनों इस युग के दार्शनिक विचारों ने इस आन्दोलन को विशेष दिशा दी, जिससे वैज्ञानिक का दर्जा लेखक व साहित्यिक से ऊपर माना जाने लगा।

फ्लोरिंग विश्वविद्यालयों की सदस्या बन कर मान्या जनता में सांस्कृतिक विकास के हेतु लुके-छिपे लेख व पर्चे बांटती, गरीब लड़कियों की कक्षाएं खोलती, स्त्रियों को पढ़ाती, छोटे छोटे पुस्तकालयों को स्थापित करती। अब उसके लिए पिता की मेज़ पर पड़े यंत्र कौतूहल एवं रहस्य का विषय न रहे थे। वह अब केवल रसायन-शास्त्र व गणित ही नहीं पढ़ना चाहती थी, बल्कि सामाजिक विकास एवं पुराने नियम, कायदे-कानून में परिवर्तन द्वारा जीवन के दूसरे पक्ष का ज्ञान प्राप्त करके जनता को जाग्रत करना चाहती थी। अपने उन्नत विचारों के कारण वह पूर्ण समाजवादी थीं; किन्तु किसी भी राजनैतिक दल से सम्बन्ध न रख, मार्क्सवादी अन्तर्राष्ट्रीयता से बची रहीं और उससे भी कहीं अधिक मातृ-भूमि पोलैण्ड को प्रेम और उसकी सेवा करना ही ध्येय बना लिया; किन्तु वे नहीं जानती थीं कि समय आएगा जब उन्हें देश-सेवा, मानवता एवं बौद्धिक योग के स्वप्नों में से किसी एक को विशेष रूप से चुनना पड़ेगा।

जाने कैसे वे इन सब प्रभावशाली, किन्तु उत्तेजित विचारों में लगी हुई अपनी प्रकृति को गम्भीर बनाए रखतीं, कभी किसी से डांट-फटकार न करतीं। एक सिगरेट तक जलाना उन्हें अखरता था।

इसके अतिरिक्त स्वाध्याय के लिए प्रायः अपने को बन्द कर वे डास्टोवस्की आदि के उपन्यास पढ़तीं, ताकि नन्हीं पोलिश कन्याओं को संस्कृति पर मतवाली होनेवाली झांकियां दे सकें, उनकी नोटबुक से उस समय की मान्या की आन्तरिक प्रतिभा का पता चलता है। कहीं जर्मन-पोलिश कविताएं, कहीं ईसा और रूसी दार्शनिकों के विचार, फिर फूल, जानवरों के पेन्सिल-चित्र। वे सदा बच्चों की भांति सरल-साधारण

वेश में, नेता बनने की अपेक्षा, छात्रों के साथ स्वरचित कविताएं पढ़तीं।

मान्या के हृदय में सदा नया मार्ग खोजने की तीव्र पिपासा थी। पर वह बड़ी बहन के भविष्य के लिए, जिसने चार वर्ष हुए, मां की मृत्यु के बाद घर सम्भालने की खातिर पढ़ाई बीच में छोड़ दी थी, बहुत चिन्तित थीं। दोनों बहनें एकप्राण थीं। स्वभाव और आदतें भी मिलती थीं। बड़ी बहन घर-भर की समस्याएं प्रायः मान्या के आगे ही रखा करतीं। एक दिन सारा हिसाब-किताब रुपए-पैसे बिखेरे ब्रोन्या चिन्तातुर बैठी थी कि मान्या बोल उठी, "बस, मुझे मार्ग सूझ गया है।"

"कौनसा ? क्या !"

मान्या बहन के निकट आ बैठी। बोली, "कितने वर्ष तुम्हें वहां लगेंगे ?"

"जानती तो हो। पूरे पांच वर्ष का डाक्टरी का पाठ्यक्रम होता है।"

"किन्तु इस प्रकार एक घंटे का आधा रूबल लेकर जो फंड हम जमा कर रही हैं—कबतक वहां पहुंच पायेगी। इसीलिए तुम फौरन अपने रुपये लेकर चली जाओ। पीछे मैं और पिताजी किसी प्रकार प्रबन्ध करके भेजते जायंगे।"

ब्रोन्या की आंखें भर आईं।

"मान्या, तुम यह मज़ाक छोड़ दो। कैसे होगा ?"

"मज़ाक नहीं, बहन। मुझे वास्तव में रास्ता सूझ गया है। मैं किसी ऐसे परिवार में संरक्षिका का काम सम्भालने जा रही हूं, जहां रहने के लिए स्थान और भोजन मुफ्त मिल सकें।"

"मान्या प्यारी, मान्या, मैं पहले क्यों जाऊं ? तुम तो मुझसे कहीं अधिक प्रतिभाशालिनी हो।"

"नहीं बहन, पगली न बनो। बड़ी को ही पहले जाना चाहिए। लौटकर भले ही मुझे सोने से लाद देना।"

सितम्बर १८८५ में एक दिन प्रातः वह युवती कन्या नौकरी की तलाश में चुपचाप एक दफ्तर के आगे खड़ी थी।

"मेरी दशा एक कैदी की भांति है। चाहूंगी कि कोई दुश्मन भी ऐसी परिस्थिति में न रहे। यह वकील-परिवार उन धनी घरानों में से है, जहां बात-बात में भद्दा हंसी-मज़ाक होता रहता है, जहां एक ओर रुपया पानी की तरह बहाया जाता है, दूसरी ओर साधारण दिये के तेल की भी कंजूसी की जाती है। प्रथम बार मैंने यहां मानव-समाज को भली प्रकार परखा है। ऐसे चरित्र केवल उपन्यासों में पढ़ा करती थी।... सीखा है कि ऐसे धन के नशे में उन्मत्त लोगों से किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को सम्पर्क न रखना चाहिए।"

वास्तव में एक ऐसे सुसंस्कृत वातावरण में से निकलना, जहां एक शब्द भी भूलकर निरर्थक या अश्लील न बोला जाता हो, जहां सदा ज्ञान-प्राप्ति के लिए दौड़ होती रही हो, मान्या के लिए दुःखजनक कैसे न होता? इसी से सन् १८८६ की प्रथम जनवरी के भयंकर जाड़े में प्रथम बार वह पिता को प्रणाम कर दूर देहात में एक फ्रेंच घर में काम करने चली गई। यहां का वातावरण अपेक्षाकृत भला था; किन्तु प्रायः नये-नये अतिथियों के आने से व्यर्थ की बातचीत, नृत्य और दावतें उन्हें दुःख देती थीं।

ये लोग बुरे नहीं थे। सुशिक्षित भी थे; किन्तु कोरी शिक्षा ने उनका मानसिक विकास नहीं किया। नित्यप्रति की दावतों-क्लबों आदि ने उनके स्वाभाविक गुणों को नष्ट कर दिया। तभी मान्या को सूझ आई और उसने घर की बड़ी लड़की को साथ लेकर ग्रामीण बच्चों का स्कूल खोल दिया। वह अपने वेतन में से कलम-पेन्सिल आदि का खर्च देती और उत्सुकता से बच्चों के आने की पदचाप सुनती। गंदे चिथड़े पहने प्रायः घरों के नौकरों, किसानों व कारखाने के मज़दूरों के बच्चे होते, जिनके अनपढ़ माता-पिता बाहर से अपने ज़िद्दी-चिड़चिड़े जम्हाइयां लेते हुए बच्चों का लिखना-पढ़ना देख कर प्रसन्न होते। मान्या का हृदय आनन्द के मारे उछल पड़ता था—अहा, इनमें कितनी प्रतिभा भरी पड़ी है! किन्तु कभी-कभी उतने बड़े अज्ञान के समुद्र के सामने वह अपने को निःशस्त्र और दुर्बल पाती। बेचारे किसान क्योंकर समझ पाते कि

उनकी युवती अध्यापिका स्वयं शिक्षा-प्राप्ति के स्वप्न ले रही है। प्रायः आधी रात तक वह डेस्क पर हाथ रखे सामाजवाद, भौतिक शास्त्र, गणित आदि विषयों पर पिता से पत्र-व्यवहार करते पाई जाती।

कितनी ही पुस्तकें वह एक ही समय में पढ़ने लगती; क्योंकि एक ही विषय दिन भर के थके मस्तिष्क को और भी थका देनेवाला लगता। इस प्रकार एकान्त अध्ययन से उसने अपनी अधूरी शिक्षा को पूरा किया और स्वतंत्ररुप से काम करने की ऐसी आदतें डाल लीं, जिन्होंने बाद में बहुत सहायता दी।

"हां, प्रेम नाम की वस्तु को तो मैं पास फटकने भी न दूंगी। उसे मैंने दबा दिया है।" ...

यह घटना ऐसे हुई कि इस परिवार का बड़ा लड़का इन्हीं दिनों वार्सा से शिक्षा प्राप्त कर के लौटा। उसकी दृष्टि मान्या पर पड़ी। किन्तु लड़के के माता-पिता घरवालों को निमंत्रित करते और जन्म के दिन पर उपहार आदि दिया करते थे। वे एकाएक चौंक उठे! घरवाले कितने ही उन्नत क्यों न हों; पर जिनके पास एक कौड़ी भी नहीं, उनकी लड़की के साथ भद्रश्रेणी का युवक कैसे विवाह कर सकता है? मान्या एकदम चुप हो गई। वह यहां से छोड़े भी कैसे और रहे भी कैसे? बहन ब्रोन्या पढ़ रही है, पिता के अवकाश-प्राप्ति का समय आगया है। तो भी उसने ऊपर से जीवन को वैसे ही पढ़ने-पढ़ाने में लगाए रखा; किन्तु भीतर-ही-भीतर जी टूटा हुआ, आर्थिक कठिनाइयों से परेशान!

एकरस जीवन के तीन वर्ष काटने के उपरान्त आखिर आशा की किरण चमकी। पेरिस से ब्रोन्या की चिट्ठी आई कि वह सफलता से उत्तीर्ण हुई और एक होनहार डाक्टर से विवाह कर रही है। जो कुछ भी हो, लेकर फौरन चली आओ। एक वर्ष मेरे पास रहना, पीछे कुछ-न-कुछ पिताजी भेज देंगे। अनुमान था कि मान्या यह सुनकर नाच उठेगी; किन्तु इतने वर्ष भाई-बहनों से पृथक रह कर और वृद्ध पिता को तनिक भी प्रसन्नता पहुंचाए बिना वह जाना नहीं चाहती थी; लेकिन

आदर्शवादी पिता अपनी प्रतिभाशालिनी पुत्री को खूब पहचानते थे। उन्होंने उसे पास ठहरने की अपेक्षा अपना संचित धन और आवश्यक सामान देकर पुनः अनिश्चित काल के लिए विदा दी। मान्या का जी भर आया—"पिताजी, मैं बहुत दिन वहां न रहूंगी। कुल दो या तीन वर्ष। जब भी परीक्षाएं समाप्त होंगी, लौट आऊंगी। हम दोनों फिर कभी अलग न रहेंगे। ठीक है न ?"

"हां बेटी" और रुंधे गले से प्रोफेसर ने मान्या को चिपटाकर कहा, "खूब परिश्रम करना। भाग्य तुम्हारे साथ है।"

गाड़ी की आवाज कुछ ही देर में अन्धकार को चीरती-चिघाड़ती जर्मनी को पार कर रही थी। उसके चौथे दर्जे के बिना सीटों वाले डिब्बे में घर के सामान के साथ लाई हुई कुर्सी पर बैठी मान्या कल्पना कर रही थी कि कब वह लौटकर योग्य अध्यापिका का स्थान प्राप्त करेगी। वह नहीं जानती थी कि गाड़ी में कदम रखते ही उसने अन्धकार और ज्योति के बीच का जीवन-मार्ग चुन लिया है। पेरिस की विज्ञान-परिषद् की वह विद्यार्थिनी हो गई।

पहले तो कुछ समय वह बहन के घर रही; लेकिन वहां का वातावरण अत्यन्त मनोरंजक था। प्रायः कलाकार संगीतज्ञ आते और संगीत-नृत्य आदि का कार्यक्रम रहता; किन्तु मान्या को पिता ने सावधान कर दिया था—"यदि तुम्हें शिक्षा प्राप्त करके वार्सा की सेवा करनी है तो सदा अपरिचित होकर रहना। मेरे लिए इससे बढ़कर दुःख और न होगा यदि तुम्हारा रूप पेरिस के जलसों और क्लबों आदि द्वारा प्रकट हुआ।" मान्या भी वही चाहती थी। वह फ्रांस की जीती-जागती तस्वीर नहीं, बल्कि एकान्त में साधना करके कुछ बनने आई थी। एक क्षण भी उसे अध्ययन के बिना नष्ट नहीं करना था। अतः वह शीघ्र ही प्रयोगशाला से कुछ दूर एक छात्रावास में रहने लगी।

पूर्ण ब्रह्मचर्य, तपस्या, एवं कठोर साधना में बीते, मेरी के जीवन के इन तीन वर्षों को देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता है। कैसे वे सन् १८९२

के खर्चीले पेरिस नगर में चालीस रूबल में किराया, भोजन, वस्त्र, पुस्तकें, फीस आदि चुका पाती होंगी ! समस्याओं का हल करने में मेरी ने कभी हार नहीं मानी। उस-जैसे जाने कितने पोलिश विद्यार्थी भला-बुरा खा-पी-पहनकर शिक्षा पा रहे थे। ब्रोन्या की भांति खाना बनाना भी वह नहीं जानती थी। और उसे धुन भी तो लगी थी, क्यों न वही समय परीक्षण में लगाए ! अत्यन्त सादा भोजन, कमरे में सिवाय चटाई, कुर्सी या कुछ अति आवश्यक चीजों के कुछ नहीं। पढ़ाई से थककर वह प्रायः वस्त्र धोने अथवा मरम्मत करने में लग जाती। खाना-पीना भूलकर रात को देर तक पुस्तकालय में पढ़ती रहती। एक बार उसके बहनोई ने अल्पाहार से मरते-मरते उसे बचाया।

अब वह शुद्ध फ्रेंच भी बोलने लगी थी। सन् १८९३ में उसने दो परीक्षाएं पास कर लीं। सर्वप्रथम आने पर बड़ी प्रसन्न हुई और सीधी घर गई। वहां पर उसके बहन, भाई, पिता वर्षों से उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे; परन्तु घर में वह अधिक समय नहीं ठहरी। शीघ्र ही एक उदार महिला के प्रयत्न से विदेश जाकर पढ़ने के लिए उसेछात्रवृत्ति मिली। शिक्षा-प्राप्ति की तीव्र जिज्ञासा उसे थी ही। इस सहायता से उसने तत्काल लाभ उठाने के लिए पेरिस को प्रस्थान किया। वहां वह तन्मयता से दिन-रात बिजली की बत्तियों के प्रकाश में वैज्ञानिक अनुसन्धान करती रही।

निस्सन्देह आगामी जीवन में मेरी ने प्रसन्नता के बहुत से दिन देखे; किन्तु जो आनन्द, सन्तोष, गौरव, स्वाभिमान इन चार वर्षों के निर्धन विद्यार्थी-जीवन में प्राप्त किया, उसे वह आजन्म भूली नहीं।

× × ×

एक बार ठोकर खाकर प्रेम अथवा विवाह नाम की वस्तु को मानों मेरी अपने जीवन से सदा के लिए निकाल ही चुकी थी। उसने अपने सम्मुख एक अन्य ही रहस्यपूर्ण संसार खड़ा कर लिया था; किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि किसी भी महत्वपूर्ण कार्य के उद्घाटन के लिए

प्रकृति स्वयं ही विचित्र सृष्टि रचा करती है। कौन जानता था कि दूसरी ओर भी एक ऐसे ही व्यक्तित्व का विकास हो रहा है, युवक पीरी क्यूरी, कुशल डाक्टर और वैज्ञानिक परिवार में से थे। अठारह वर्ष में उन्होंने विज्ञान में एम० ए० कर लिया और तभी पेरिस की प्रयोग-शाला में अनुसन्धान करते हुए एक उच्च वैज्ञानिक के पद पर नियुक्त हो गए। वे मेरी की भांति ही मानवीय गुणों में उच्च धरातल पर थे। कितनी बार उन्होंने सरकारी नौकरी लेने से इन्कार किया। उनकी लेखनशैली बड़ी सुन्दर थी। वे एकाएक मेरी को देखकर आश्चर्य-चकित हो उठे—"सुन्दर, आकर्षक, सौम्यमूर्ति, सुलझी हुई दृष्टि। ऊंचे-से-ऊंचे धरातल पर बातचीत कर सके, वह कितनी मृदु है!" और दुबारा मिलने की इच्छा प्रकट की। बातचीत हुई, फूलों का गुलदस्ता इन दोनों के मध्य में था। सहसा पीरी के मुंह से आन्तरिक भाव निकल पड़े, "तुम्हें अब विज्ञान छोड़ने का कोई अधिकार नहीं। मेरी ने मुस्करा कर देखा और आंखें झुका लीं।

उस दिन से वह मेडम क्यूरी कहलाने लगीं। इनका विवाह भी अनोखे ढंग से हुआ, "मेरे पास केवल एक पोशाक है। चाहो तो एक और ऐसी काली बनवा दो, जिसे मैं प्रयोगशाला में भी पहनकर जा सकूं।" मेरी की बस यही मांग थी।

विवाह के समय वास्तव में न तो उनके पास अंगूठी ही थी, न श्वेतवस्त्र ही और न रजिस्ट्रार आदि के लिए खर्च करने को पैसे। केवल दो नई चमकती साइकिलें थीं, जो उनके चचेरे भाई ने भेंट-स्वरूप भेजी थीं। यह अपूर्व मिलन वास्तव में देखने योग्य था। पहले दिन ही झोले में खाने-पीने की चीजें डाले वे दोनों पक्षियों की भांति बनों में विचरण कर रहे थे।

छुट्टी मनाने के बाद मेडम क्यूरी ने घर सम्भाला। कभी ब्रोन्या से शिक्षा लेने जातीं तो कभी नई-नई स्वादिष्ट चीजें बनाने की चिन्ता में रहतीं। किन्तु खाना बनाना उतना ही कठिन और रहस्य-पूर्ण है जितना रसायन-शास्त्र। [illegible] को दोनों पति-पत्नी दिन भर का

आय-व्यय लिखने बैठते और इस प्रकार घरेलू कामों में निमग्न एक दूसरे की ओर देखकर हंस पड़ते। पुनः कुछ ही घंटों बाद कलम चलने लगती और पृष्ठ पलटने की हल्की आवाजें आने लगतीं।

अगले ही वर्ष उनकी प्रथम सन्तान ईरेन ने जन्म लिया, जिसकी देख-रेख, कपड़े पहनाना, नहलाना-धुलाना आदि वे स्वयं करतीं। कुछ ही वर्ष में एकान्त, शुष्क, तपस्या का जीवन बिताने वाली विद्यार्थिनी मातृत्व के स्पर्श से कोमल, सुन्दर फूल की तरह निखर आई। फिर भी मातृत्व एवं गृहस्थी में तल्लीन होते हुए भी इधर जो वे साधारण-सी प्रयोगशाला में पृथक संसार बसा रही थीं, उसकी एक रोमांचक कथा ह।

विश्वविद्यालय से दो डिग्रियां प्राप्त करने के बाद अब वे डाक्टर की उपाधि के लिए, उस लेखक की भांति जो अपने आगामी उपन्यास के लिए मन-ही-मन प्रश्नोत्तर करता है, निबंध का विषय सोचती रहीं। पुनः वे दत्तचित्त होकर पिछली वैज्ञानिक रिपोर्टों का अध्ययन और अनुसन्धान करने में जुट गईं।

परीक्षण करते-करते सहसा लवण के अतिरिक्त एक लाल तत्व विशेष सत्ता रखते हुए उन्हें उपलब्ध हुआ, जिसके नामकरण के लिए वे तत्क्षण भागती हुई ब्रोन्या के पास गई, मानों बच्ची का नाम रखना हो।

यह रेडियम की प्रथम अवस्था थी। किन्तु यह तत्व क्या है? इसका स्रोत कहां है? यह पहेली बन गई। आजतक किसी भी वैज्ञानिक ने इसके बारे में अनुसन्धान नहीं किया था। मेरी के अन्दर उत्सुकता चरम-सीमा तक पहुंच चुकी थी, परीक्षण करने का उनका ढंग भी निराला था। जितना ही वह इन किरणों के साथ गहराई में उतरती गईं, उन्हें एक अलौकिक व्यक्तित्व दिखाई देता गया। तुरन्त इस काम में पीरी क्यूरी भी उनके साथ हो गए। वे दोनों सदा पत्र-पत्रिकाओं में अपने अन्वेषणों के विषय में लिखते। आगे जाकर इनके द्वारा स्थापित संस्था का नाम भी 'पीरी और मेरी' दोनों पर रखा गया।

ऊंचे-से-ऊंचे परीक्षण करते हुए भी साधारण जीवन को मेरी कभी न भूली। सन् १८९९ की पांच जनवरी को जहां उनकी डायरी में बच्ची के दांत निकलने, धीरे-धीरे चलने और करोंदे (गूज़बेरी) का मुरब्बा बनाने का वर्णन है तथा बहन से पेड़-पौधों के बारे में पूछा गया है, नीचे ठीक उसी तिथि में दर्ज है—"विश्वस्त रूप से लाल किरणों वाले तत्त्व को रेडियम नाम देना निश्चित किया गया है। यह द्रव्य अभी तक ऐसी स्पष्ट दशा में नहीं है। इससे भी अधिक कठिन साधना की आवश्यकता है।"

और वास्तव में क्यूरी-दम्पती ने अपने यौवन का सर्वोत्तम भाग एक टूटे-फूटे छप्पर के नीचे परीक्षण करते-करते काट दिया। न उनके पास पैसा था, न प्रयोगशाला के लिए सरकारी सहायता। एक प्रकार से शून्य में से सृजन करना था। धूल और एसिड भरा पुराना-सा चोगा पहने, बाल हवा में उड़ते हुए, धुएं से भरा गला, दुखती आंखें, दिन-भर वह लम्बी-सी छड़ी हाथ में लिए रासायनिक द्रव्य में घुमाया करतीं और सांझ को थकान से चूर होकर पड़ जातीं। इधर पीरी सूक्ष्म यंत्रों से तत्व का परीक्षण कर रहे होते। वे कभी सिनेमा-थियेटर आदि नहीं गए। हां, यदि कोई सम्मति मांगने भी आता तो बाधा पड़ती। इसी प्रकार अनेक वसंत और पतझड़ बीते; पर रेडियम नहीं मिली। अन्त में पूरे पैंतालीस सप्ताह के बाद हिलाते-हिलाते कोई चीज भारी-भारी सी जान पड़ी। उस रात वह नौ बजे तक बच्ची को सुलाने में लगी रही थीं। वैसे प्राय: जब बच्ची गाढ़ निद्रा में सो जाती तो उसके फ्राक सीने लगतीं। बाद में सोने के पहले पीरी के पास बैठतीं; किन्तु आज इन सब कामों की ओर उनका ध्यान न था।

दिन भर के काम से थककर वे दोनों रात को फिर प्रयोगशाला में गये। मेरी ने कहा, "बत्ती मत जलाओ! पीरी। रेडियम का वर्ण अवश्य सुन्दर होना चाहिए, यही थी न तुम्हारी अभिलाषा? लो, देखो!"

वास्तव में हल्की, नीली, पीली, धाराएं लिये रात्रि के अंधकार में रेडियम झिलमिला उठा।

"देखो-देखो।" कहते हुए युवती मेरी धीरे-से मोढ़ा उठाकर उसके पास ऐसे बैठ गई जिस भाँति अभी कुछ देर पहले वह बच्ची को सुलाने उसके सिरहाने बैठी थी। पीरी गद्‌गद् हो गया, और यह जादू-भरी घटना विश्व भर के जीवन के लिए अमिट हो गई।

इस अमूल्य रत्न के उपलब्ध होने पर भी वे आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त न हो सके। पांच सौ रुपये पर पीरी अध्यापन-कार्य करते थे, जो उनका बहुत समय ले जाता था। बच्चे के लिए नौकरानी रखनी भी आवश्यक थी। निरन्तर चौबीस घंटे के कार्य ने दोनों के स्वास्थ्य को बिगाड़ दिया था। जेनेवा से यद्यपि पीरी को अधिक वेतन पर आने के लिए आग्रह हुआ; किन्तु एक तो वह प्रयोगशाला-निर्माण को स्वयं देख रहे थे, दूसरे इन दोनों का अलग-अलग रहना ही असम्भव था। मेरी ने स्वयं लड़कियों के कालेज में काम करना शुरू कर दिया।

इसी बीच वे अवकाश में विवाह के बाद प्रथम बार पोलैंड आईं। वहां सब भाई-बहन एकत्र थे। उनके पिता देख-देखकर फूले न समाये कि उनके छोटे-छोटे बच्चे, जो कभी ट्यूशन ढूंढते फिरते थे, आज कितने ऊंचे पदों पर हैं! जोसफ और ब्रोन्या डाक्टर हैं। हेला और उसका पति अच्छे पद पर हैं और उनकी नन्हीं मान्या तो मानों उन्हीं के निजी स्वप्नों को पूरा कर रही है। पीरी क्यूरी, टूटी-फूटी पोलिश में बात कर अपने को गौरवपूर्ण मानते, वे कभी देहातों में, कभी पर्वतों की चोटियों पर, कभी देवदारु के बनों में घूमते हुए उनकी भव्यता को देखकर ऐसे प्रभावित होते कि भूली हुई कविताएं स्मरण आने लगतीं। पर ये सुखमय दिन कितने क्षणिक थे! दो वर्ष बाद मेरी के पिता प्रो० स्कोल्डवस्की का अचानक आपरेशन हुआ। मेरी को सूचना दी गई, किन्तु पहुंचने तक उनकी मृत्यु हो चुकी थी। जाते ही उन्होंने बहुत आग्रह से शव का बक्स (कौफ़िन) खुलवाया और रो-रोकर पिता से क्षमा चाही।

काश कि वह दो वर्ष और जीते और मान्या को नोबुल पुरस्कार से सम्मानित होते देखते !

पिता की मृत्यु, ब्रोन्या के लड़के के देहान्त और सबसे अधिक पीरी के गिरे हुए स्वास्थ्य के कारण, जिनके वात रोग से दर्द रहने लगा था, मेरी की मानसिक दशा बहुत चिन्ता का कारण बन गई थी। वे रात भर पीरी के साथ जगकर काटतीं, दिन प्रयोगशाला व अध्यापन में बितातीं। "जीवन की यह दिशा वास्तव में हमने कठिन और दुखदायी चुनी है।"——ऐसा कभी पीरी कह उठते, जिसका मेरी सदा विरोध करती; किन्तु एक दिन योंही भयभीत विचारों ने उन्हें आ दबाया ——

"पीरी ! पीरी ! यदि हम दोनों में से एक चला गया तो दूसरा पीछे रह सकेगा ?"

"क्यों ?" पीरी ने सिर हिलाया और मोह में डूबती हुई मेरी को कर्त्तव्य की सुधि दिलाते हुए कहा——"वैज्ञानिक को अधिकार नहीं कि वह अपने जीवन के ध्येय को, अर्थात् वैज्ञानिक अन्वेषण को छोड़े। चाहे बिना आत्मा के शरीर धारण करना पड़े, निरन्तर काम में लगे रहना चाहिए।" है भी सत्य। यह सच्चे साधक के बस की बात नहीं कि अपनी दिशा के विरुद्ध जा सके। इसीसे विपरीत परिस्थितियों में भी मेरी द्वारा रेडियम के प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ते गए। सन् १८९९ से १९०४ तक क्यूरी-दम्पती ने कभी पृथक, कभी सम्मिलित रूप से पेंतीस विभिन्न प्रयोगों के विवरण प्रकाशित किए। वह दृश्य भूलने का नहीं, जिस दिन उन्हें डाक्टर की उपाधि मिली। मेरी अपने लिए काली ऊनी पोशाक बना रही थी कि ब्रोन्या आते ही उसे खींचकर दरजी के पास ले गई। दोनों बहनों को वे दिन याद हो आए, जब बीस वर्ष पूर्व इसी प्रकार एक दिन ब्रोन्या ने छोटी मान्या को सजाकर स्वर्णपदक लेने भेजा था। विश्वविद्यालय में चारों ओर प्रसिद्ध वैज्ञानिकों, दर्शकों से घिरी मेडम क्यूरी बीच में खड़ी थी। जीवन भर के संघर्ष के चिन्ह उसके गोल-पीले मुख एवं भवों के ऊपर उभर कर दिखाई दे रहे थे। वृद्ध डा० क्यूरी, पीरी क्यूरी, ब्रोन्या और शिष्या कन्याएं सामने बैठी

थीं। पेरिस की विज्ञान-परिषद की ओर से किसी भी महिला के लिए ऐसे सम्मान का प्रथम अवसर था।

× × ×

"रेडियम हमारी बहुमूल्य सृष्टि है। लोग उसके नाम से धन कमाना चाहते हैं! क्या हमें उसके सभी रहस्य प्रकट कर देने होंगे?" अमेरिका से एक पत्र आने पर पीरी ने पूछा।

"अवश्य, क्यों नहीं?"

"सोचता मैं भी ऐसा ही हूं; किन्तु कितनी संघर्षमय विकट परिस्थितियों में से हमारा जीवन गुजरा है—हमारे दो छोटे-छोटे बच्चे हैं। और फिर हमें प्रयोगशाला भी तो बनानी है।"

"अन्वेषक को सर्वथा अपने सही परिणाम प्रकाशित करवा देने चाहिए। फिर यह तो एक प्रारम्भिक घटना है। इसके द्वारा कैन्सर आदि न जाने कितने असाधारण रोगों का इलाज होने जा रहा है। व्यापारिक दृष्टि से इसे देखना ही वैज्ञानिक रुचि के प्रतिकूल होगा।"

उपर्युक्त वार्तालाप के पूरे पन्द्रह दिन बाद रविवार को सबेरे को वह अद्भुद जोड़ी अपनी प्यारी साइकिलों पर पैडिल घुमाती हुई जंगलों में फूल बटोरती दिखाई दी।

निस्सन्देह अब नोबुल पुरस्कार के कारण आर्थिक संकट दूर हुआ, मेरी का नाम व प्रसिद्धि अत्यधिक बढ़ गई। लोग तरह-तरह के प्रश्न करते, अखबारवालों व दर्शकों की भीड़ रहती। लोग उनकी प्रशंसा में कविताएं लिखते, यहां तक कि एक अमेरिकन ने लिखा—"क्या मुझे क्यूरी नाम से घोड़ा रेस में लगाने की अनुमति है?"

इस प्रसिद्धि से वे दोनों शान्तिप्रिय प्राणी घबड़ा उठे। उन्होंने पत्र-प्रतिनिधियों से मिलना छोड़ दिया। पीरी तो लेख तक प्रकाशित करने में संकोच करने लगे। और मेरी कभी एक क्षण भी वृथा न गंवातीं।

जून १९०५ को प्रथम बार सरकारी तौर पर उन्हें दो हजार चार सौ फ्रांक वार्षिक मिले, जिसके द्वारा उन्होंने अपने प्यारे पुराने छप्पर से विदा पाई और नूतन प्रयोगशाला में एकाकार होकर काम करने लगे। एक दिन पीरी ने शान्त भाव से बैठी मेरी को देखा। उसके कोमल गालों और केशों का स्पर्श करते हुए कहा, "जीवन तुम्हारे संग कितना मधुर है मेरी !" और उसी दिन वे शहर चले गए। ऋतु बदल गई थी, ख्याल तक न था कि गर्मी एकदम शुरू हो जायगी। एकाएक तेज हवा चलने लगी। वर्षा होने से फुटपाथ पर फिसलन हो गई।

पीरी को आज पहले विज्ञान-परिषद्, फिर प्रकाशक की ओर प्रूफ सुधारने पुनः मेरी के साथ संस्था में कई आवश्यक कार्यों से जाना था। दोनों ही व्यस्त थे। सवेरे से एक दूसरे को देख न सके। केवल जाती बार सीढ़ियों पर से पीरी ने पूछा, "मेरी, तुम्हें क्या आज प्रयोगशाला में जाना है ?"

"शायद नहीं।" बच्चियों को कपड़े पहनाते हुए दूर ही से मेरी ने उत्तर दिया; पर शब्द पहुंच नहीं पाए कि पीरी चले गए।

कौन जानता था कि उसी दिन पल भर में ऐसे मधुर नाटक का ऐसा करुणा अन्त हो जायगा !

प्रयोगशाला के विषय में कई प्रकार की योजनाएं सोचते-सोचते कोलाहल-पूर्ण फ़ुटपाथ को पार करते समय पीरी घोड़ा-गाड़ी की दबोच में आ गए।

कई सप्ताह तक मेरी किसी से बोल न सकी। वह एकाएक चीख उठती। जो-कुछ डायरी में लिखने लग जाती, वह सार-स्वरूप इस लेख के आरम्भ में दिया गया है।

इस भयंकर विपदा के बाद यद्यपि उनकी हार्दिक प्रसन्नता उसी क्षण चली गई; किन्तु एकाएक कितने कार्य जैसे—दो नन्हीं-नन्हीं बच्चियों का पालन-पोषण, शिक्षा, वृद्ध ससुर की देख-रेख, पीरी का अधूरा अनुसन्धान-कार्य, प्रयोगशाला का उन्नत रूप, भौतिक शास्त्र

की आकांक्षा आदि कार्य प्रमुखता से सामने आ गये। शायद उन्होंने ही उसे जीवित रखा।

मेरी की प्रसिद्धि विश्व के कोने-कोने में व्याप्त हो चुकी थी। पीरी के रिक्त स्थान पर एक महिला प्रोफेसर के रूप में प्रथम बार विश्वविद्यालय में उनकी नियुक्ति हुई। Radioactivity पर एक हजार पृष्ठों की अनुसन्धान विषयक नई पुस्तक उन्होंने स्वयं लिखी और पीरी के रिसर्च-कार्यों का संशोधन करके उन्हें प्रकाशित किया। अब अधिकारियों की भी निद्रा-भंग हुई और पीरी के नाम पर बृहत् रेडियम संस्था भवन का निर्माण कार्य आरम्भ हुआ, जिसके दो भाग थे—एक प्रयोगशाला, दूसरा रेडियम द्वारा चिकित्सा आदि के परीक्षण। भवन-निर्माण भी मेरी ने उपनी देख-रेख में ही करवाया। अहाते में फूल लगाए। वे स्वयं खुरपी लेकर बैठ जातीं। पौधे सीचतीं और ऐन उस दिन, जबकि पीरी का स्वप्न 'भविष्य का मन्दिर' सम्पन्न हो गया, सूचना मिली कि वर्षा के कारण उनका पुराना प्रिय छप्पर ढह रहा है तो मेरी दौड़ती हुई उस स्मृति-चिन्ह को देखने गई।

× × ×

युद्ध के दिनों में इस प्रसिद्ध वैज्ञानिक का निराला ही, चित्र देखने को मिलता है। दोनों बच्चियों को गांव में छोड़कर वे साधारण नर्स के वेश में रेडक्रास के साथ निकल पड़ीं, मोटर चलाना सीखा; क्योंकि उन्हें ड्राइवर आदि किसी पर निर्भर रहने से घृणा थी। पहिया बदल लेतीं, कल पुर्जे साफ़ कर लेतीं, जहां कुछ मिलता खा-पी लेतीं, कभी कैम्प में और कभी कहीं पड़ जातीं। विद्यार्थी जीवन के क्रान्तिकारी संस्कारों ने मेरी को अनायास ही सैनिक का रूप दे दिया।

राष्ट्र द्वारा मांग होने पर उन्होंने नोबुल पुरस्कार में मिलीं स्वर्ण-मुद्राएं तथा स्वर्ण-पदक आदि तक भेंट कर देने चाहे; किन्तु अधिकारियों ने इस गौरवपूर्ण, राष्ट्रीय भेंट को लेने से इन्कार कर दिया। हंसते-हंसते पूरे चार वर्ष घायलों की सेवा-शुश्रूषा में बीत गए। युद्ध समाप्त हुआ। मेरी के लिए यह दोहरी विजय थी। डेढ़ सौ वर्षों की

गुलामी के बाद पोलैंड पुनर्जीवित हो रहा था। बचपन में ज़ारशाही को बेधड़क उत्तर देना, किसानों व बच्चों को शिक्षित करना, यह सब व्यर्थ नहीं गया। उसीका यह परिणाम है, इससे वे अत्यन्त उल्लसित थीं—"हमें तनिक भी आशा न थी कि इस घड़ी को देखने के लिए हम भी जीवित रहेंगे। लगता था कि वह दिन हमारे बच्चों को देखना नसीब होगा, फिर भी मुझे भय है कि युद्ध के बाद पोलैंड कहीं विभक्त न हो जाय !"

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटाइन से मेरी का घनिष्ट परिचय था। ये दोनों प्रतिभाशाली व्यक्ति मित्र के रूप में जर्मन, फ्रेंच आदि में भौतिक शास्त्र के नियमों पर विचार-विनिमय करते। कुछ ही दिनों बाद मेरी ने इंगलैंड, अमेरिका आदि देशों की यात्रा की। इन देशों के प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय ने अत्यधिक सम्मान और समारोहों द्वारा डाक्टर की डिग्रियां उन्हें प्रदान कीं। अमेरिका में तो एक स्थान पर पांच सौ तिहत्तर वैज्ञानिक संस्थाओं के प्रतिनिधि एकत्र हुए और अमरीकी स्त्रियों ने चन्दा जमा करके रेडियम का एक ग्राम विशेष रूप से उनको भेंट किया। लौटकर मेरी ने उसे प्रयोगशाला में रख दिया और बाद में यह प्रयोगशाला और चिकित्सालय भी राष्ट्र के नाम पर अर्पण कर दिए।

लोगों के प्रश्न करने पर वे लिखती हैं, "निस्सन्देह क्रियात्मक रूप से ऐसे कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता संसार को है, जो निजी भविष्य का भी ध्यान रख सकें; किन्तु मानवता के लिए ऐसे स्वप्न देखने वालों की तो परम आवश्यकता है, जिनके लिए निजी स्वार्थों पर ध्यान देना ही असम्भव हो जाए।"

सन् १९१२ में जन्मभूमि वार्सा से विज्ञान-परिषद के प्रोफेसरों का एक प्रतिनिधि-मंडल उन्हें वहां की अवैतनिक सदस्य बनाने के लिए निमंत्रित करने आया। इन दिनों गुर्दे के दर्द के कारण अति दुर्बल होने पर भी वार्सा में रेडियम-भवन बनने की खबर सुनकर वे खुशी के साथ चलदीं। उसी स्थान पर, जहां बाईस वर्ष पूर्व वे भौतिक शास्त्र के प्रथम प्रयोग सीखा करती थीं, उनके सम्मान में बड़ा भारी भोज दिया गया।

लगभग पैंसठ वर्ष की आयु तक मेरी के दैनिक कार्यों एवं अथक परिश्रम में कहीं अन्तर नहीं पड़ा।

कुछ वर्षों के लिए मेरी की आंखों ने साथ छोड़ दिया। तो भी वे बिना किसी को जताए, प्रयोगशाला में अत्यन्त कौशल से कार्य करती रहीं। सहसा चमत्कार हुआ और देखने की शक्ति पुनः लौट आई।

किन्तु इस घोर परिश्रम का परिणाम कबतक क्लान्त देह वहन करती ? अकस्मात् वे शीत लगने से बीमार पड़ गईं। तेज बुखार हो आया। डाक्टरों ने प्लुरसी के कारण पहाड़ पर जाने की सम्मति दी, किन्तु परिणाम उल्टा सिद्ध हुआ।

बीमारी के दिनों में भी बार-बार पुस्तकों, ि ववरणों के प्रकाशन की ही बातें उनके मन में आतीं। "अकेले रहने दो ! मुझे शान्ति चाहिए।" ऐसा कहते-कहते, ८ जुलाई १९३४ के प्रातःकाल जब पर्वत-श्रेणियों के मध्य में सेनेटोरियम का वह कमरा पुण्य आलोक से भर उठा, वे नीली आंखें, वह सरल मुस्कराहट सदा के लिए बन्द हो गई।

मृत्यु के समय उनके साथ घर में उनकी छोटी कन्या ईव ही थी; जिसने बाद में उनकी सुन्दर जीवनी लिखी है।

नींव की ईंटें

१. नामदेव माली

डा० अब्दुल हक़

२. पीताम्बर हकीम

श्रीराम शर्मा

३. ज़ून देदी

सत्यवती मल्लिक

४. सेवादास

हरिभाऊ उपाध्याय

५. पंडित जयरामजी

बनारसीदास चतुर्वेदी

: १ :

नामदेव माली

डा. अब्दुल हक़

नामदेव मक़बरा 'रबिया-दुर्रानी*' के बाग में माली था। जाति का डेढ़, जो अति निम्न जातियों में मानी जाती है। जातियों का भेद-भाव और कृत्रिम महत्ता यद्यपि बाह्य जगत ने बना ली है; किन्तु सचाई, परोपकार, सौन्दर्यानुभूति आदि पर किसी का एकाधिकार नहीं। ये आन्तरिक विशेषताएं निम्न, उच्च, सभी क्षेत्रों में एक-सी होती हैं।

मक़बरे का बाग मेरी देख-रेख में था। मेरे रहने का मकान भी उसी उपवन में था। मैंने अपने छोटे बंगले के सामने उद्यान सजाने का काम नामदेव के सुपुर्द किया। मैं अन्दर कमरे में काम करता रहता था। मेरी मेज़ के सामने बड़ी-सी खिड़की थी। उसमें से वाटिका पर साफ़ निगाह रहती थी।

लिखते-लिखते कभी नज़र उठाकर देखता तो नामदेव को सदा अपने काम में व्यस्त पाता। कई बार उसकी चेष्टाएं देखकर बहुत आश्चर्य होता। कभी-कभी देखता कि नामदेव एक पौधे के सामने बैठा उसकी क्यारी साफ़ कर रहा है। क्यारियां साफ़ करके हौज़ से पानी लिया और धीरे-धीरे डालना शुरू किया। पानी डाल कर डौल को ठीक किया और चारों ओर से पौधे को

१ औरंगाबाद (दक्षिण) में बेगम औरंगज़ेब का मकबरा जो ठीक ताजमहल के नमूने पर बना हुआ है।

मुड़-मुड़ कर देखा। पुनः उल्टे पांव पीछे हटकर उसे देखने लगा। देखता जाता था और मुस्कराता एवं मन-ही-मन आनन्द से भर जाता था। यह देखकर मुझे आश्चर्य भी होता और प्रसन्नता भी। काम उसी समय होता है, जब उसमें रस आने लगे ।

अब मेरा कौतूहल बढ़ने लगा, यहां तक कि अनेक बार अपना काम छोड़ कर उसे देखा करता ; किन्तु उसे तनिक भी पता न चलता कि कोई उसे देख रहा ह या उसके आस-पास क्या हो रहा है। वह अपने काम में मग्न रहता।

वह निःसन्तान था। अतः वह अपने पौधों और पेड़ों ही को सन्तान समझता और बाल-बच्चों की भांति पालन-पोषण तथा देखरेख करता था। उन्हें हरा-भरा और खिलखिलाकर हंसता देख ऐसे खुश होता जैसे मां अपने बच्चों को देखकर होती है। प्रायः वह एक-एक पौधे के पास बैठता, उनको प्यार करता, झुकझुक कर उन्हें ऐसे देखता मानों चुपके-चुपके उनसे बातें कर रहा हो। जैसे-जैसे वे बढ़ते और फूलते-फलते, उसका जी भी वैसे ही बढ़ता और फूलता था। उन्हें पूरे खिले और हिलोरें लेते देखकर उसके चहरे पर आनन्द की लहरें दौड़ जातीं। कभी किसी पौधे में दुर्भाग्य से कीड़ा लग जाता तो उसे बड़ी चिन्ता होती। बाज़ार से दवाएं लाता या मुझसे और दरोगाजी से कहकर तुरन्त मंगाता। दिन भर लगकर उस पौधे की ऐसी सेवा करता, जैसे कोई सहृदय चिकित्सक अपने रोगी की करता है। अनेक उपचार करता और उसे बचा लेता। जबतक वह पूर्ण स्वस्थ न हो जाता, उसे चैन न आता था। उसके लगाये हुए पौधे पूरे ऊंचाई के होते थे और कभी कोई पेड़ व्यर्थ न जाता था।

बाग़ में रहते-रहते उसे जड़ी-बूटियों की भी पहचान हो गई थी। विशेषतया बच्चों के इलाज में वह बहुत निपुण था। दूर-दूर से लोग उसके पास बच्चों को लाते और वह अपने उपवन ही से खोजकर औषधियां दिया करता। कभी-कभी दूसरे गांववाले भी उसे इलाज के लिए बुलाने आते तो तुरन्त चला जाता। लेता किसी से भी कुछ नहीं था।

वह स्वयं भी साफ-सुथरा रहता और बाटिका को भी ऐसा स्वच्छ-पवित्र रखता, मानों भोजनालय हो। क्या मजाल जो कहीं घास-फूस या कंकड़-पत्थर पड़ा रहे! खुरपे, क्यारियां, नियम से सिंचाई और टहनियों की काट-छांट, समय पर झाड़ना बुहारना। तात्पर्य यह कि सारे उद्यान को उसने दर्पण बना रखा था।

इस उपवन के अधिकारी श्री अब्दुलरहीम स्वयं बड़े परिश्रमी व्यक्ति हैं और दूसरों से भी कसकर काम लेते हैं। प्राय: मालियों को डाँट-डपट करनी पड़ती है, अन्यथा तनिक भी ढील हुई कि हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ गये या बीड़ी पीने लगे अथवा छाया में जा लेटे। साधारणतया मनुष्य को आलस और अकर्मण्यता बहुत पसन्द है। आरामतलबी तो जैसे परम्परा से हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार हो गई है; लेकिन नामदेव को कभी कहने-सुनने की नौबत न आई। वह सदा सांसारिक बातों को अनसुना-सा करके अपने काम में लगा रहता। न प्रशंसा की इच्छा, न पुरस्कार की परवाह।

एक साल वर्षा बहुत कम हुई। कुंओं और बावलियों में नाम-मात्र को पानी रह गया। बाग पर आफत टूट पड़ी। अधिकाँश पेड़-पौधे बरबाद हो गए। जो बच रहे, वे ऐसे मुरझाए हुये थे, जैसे तपेदिक के बीमार। किन्तु नामदेव का उपवन हरा-भरा था। वह दूर-दूर से एक-एक घड़ा पानी का सिर पर उठाकर लाता और पौधों को सींचता। वह ऐसा समय था कि पानी के अकाल ने लोगों को मूर्छित-सा कर दिया था। पीने तक को पानी कठिनाई से प्राप्त होता था; पर यह देव-पुरुष कहीं-न-कहीं से ले ही आता और अपने प्राणप्यारे पौधों की प्यास बुझाता। जल की कमी और बढ़ी तो उसने रातों-रात ढोकर लाना प्रारम्भ किया। जल क्या था आधा पानी मिला कीचड़; किन्तु यही गंदलापन तो पौधों के लिए अमृत था।

इस अनुपम कार्य को देखकर मैंने उसे पुरस्कार देना चाहा; पर उसने लेने से इन्कार कर दिया। सम्भवत: उसका कथन ठीक था कि

अपने बच्चों के पालन-पोषण में कोई पुरस्कार का अधिकारी नहीं होता ।

निजाम साहब को औरंगाबाद के मनमोहक वायुमण्डल में, जब प्रथम बार इस स्थान को पुर्नजीवित करने का विचार आया तो उन्होंने यह काम डा० सिराज-यार जंग-बहादुर को सौंपा था । डाक्टर साहब बागों, उपवनों की शोभा बढ़ाने की कला के मर्मज्ञ थे । चिरकाल से झाड़-झंखड़ युक्त जंगली जानवरों के अड्डे-सी सुनसान धरती, आज डाक्टर महोदय के उद्योग से लहलहाती और आबाद नज़र आती है ।

अब तो दूर-दूर से लोग यहां सैर तथा अवकाश का आनन्द उठान आते हैं । डा० साहब को व्यक्ति की भी बड़ी पहचान थी । वे नामदेव के गुणों से भली-भांति परिचित थे और उसका आदर करते थे । उसे मक़बरे से शाही बाग में ले गये । शाही बाग आखिर शाही बाग था ! अनेक चौकीदार, बीसियों माली । और माली भी कैसे-कैसे ? टोकियो से जापानी, तेहरान से ईरानी और स्याम-देश से आए हुए थे । उनके बड़े ठाट थे । यह डा० महोदय का काम था । वें शाही बाग को वास्तव में अलौकिक रूप देना चाहते थे । यहाँ भी नामदेव का वही रंग था । उसने न बागवानी की कहीं शिक्षा पाई थी और न उसके पास कोई सनद या प्रमाण-पत्र आदि ही था ।

उसे तो बस काम की धुन थी । काम से सच्चा लगाव और इसी में उसकी जीत थी । शाही बाग में भी उसी का काम सबसे अच्छा था । दूसरे माली लड़ते-झगड़ते, शराब पीते थे; पर नामदेव लड़ाई-झगड़ा या शराब तो दूर, बीड़ी तक न पीता था ! बस वह । और था उसका काम ।

एक दिन न मालूम क्या बात हुई कि शहद की मक्खियों की आफ़त खड़ी हो गई । सब माली भाग-भाग कर छुप गये । नामदेव को खबर भी न हुई कि क्या हो रहा है । वह बराबर अपने काम में लगा रहा । उसे क्या पता था कि मौत उसके सिर पर खेल रही है । मक्खियों का एक भयावना झुण्ड एकाएक उस ग़रीब पर टूट पड़ा । इतना काटा, इतना

पाटा कि बेदम हो गया! अन्त में इसी से उसका प्राणान्त हो गया। किन्तु मैं कहता हूं, उसने आत्म-बलिदान दिया।

वह अत्यन्त सरल स्वभाव का था। उसके मुख पर प्रसन्नता और होठों पर सदा मुस्कराहट खेलती थी। छोटे-बड़े हरएक से झुककर मिलता। निर्धन था। वेतन भी कम, तो भी अपने से ग़रीब बन्धुओं की सहायता करता रहता था। काम से प्रेम था और आखिर काम करते ही संसार से विदा हो गया।

गरमी हो या जाड़ा, धूप हो या छाया, दिन हो अथवा रात, निरन्तर काम करते-करते उसे कभी यह विचार ही न आया कि मैं बहुत काम करता हूं या मेरा काम अन्य लोगों की अपेक्षा बढ़कर है। वह निराभिमानी तथा ईर्ष्या-द्वेष से परे था। सबको अच्छा समझता, सबसे प्रेम करता, दरिद्रों, पशुओं, पौधों की सेवा करता; लेकिन कभी उसे यह अनुभव न हुआ कि वह कोई नेक काम कर रहा है।

जब मुझे नामदेव की याद आती है तो सोचता हूं कि नेकी क्या है और बड़ा आदमी किसे कहते हैं? प्रत्येक व्यक्ति में प्रकृति ने कोई-न-कोई योग्यता दे रखी है। उसी योग्यता को शिखर तक पहुंचाने में सारी नेकी और बड़ाई है।

सर्वोच्च शिखर तक कोई पहुंचा है या नहीं, यह विवादास्पद बात है; किन्तु वहां तक पहुंचने की चेष्टा ही में मनुष्य मनुष्य बनता है और अन्त में स्वर्ण बन जाता है।

कहते हैं, परलोक में कर्मों की जांच-पड़ताल होती है। वहां यह नहीं पूछा जाता कि तूने कितनी मात्रा में और किस देवता की उपासना की। भगवान किसी की प्रार्थना की उपेक्षा नहीं करते। वहां तो सम्भवत: यही प्रश्न होता होगा—"मैंने जो तुझे शक्ति विशेष दी थी, उसके विकास एवं काम लेने में तूने क्या किया और उससे संसार को क्या लाभ पहुंचा ?"

यदि नेकी और बड़ाई की उपर्युक्त परिभाषा सही है तो नामदेव नेक था और बड़ा भी—भले ही जाति का कोई हो!

: २ :

पीताम्बर हकीम

पं० श्रीराम शर्मा

असाढ़ का महीना था। पहली भन्न के संपूर्ण लक्षण दिखाई पड़ने लगे थे। पछवा का जोर रुका और पुरवा का जीवन-स्रोत बह चला। तीतरपांखी बदली उठ रही थी, पर गांव के किसानों के हृदयों में उमंग की हिलोर न उठी। प्रत्येक की आकृति पर वेदना की घटा छाई हुई थी। बात यह थी कि आस-पास के गांव में पशुओं के रोग की महामारी फैल रही थी। खून के दस्त--पेट की चेचक की बीमारी के प्रकोप के कारण हाहाकार मचा हुआ था। भाड़ में जैसे चने भुनते हैं, वैसे ही रोज दस-बीस जानवर--गाय, भैंस और बैल--चटचट मर रहे थे। अधिकांश जानवर बीमार थे। दो-चार ही अछूते थे। घर के सौ व्यक्ति मर जांय, पर एक कमाने वाला--सबको रोजी देने वाला न मरे, भगवान'--की करुण ध्वनि घरों और छप्परों को पार कर मेरी कुटिया तक आ रही थी, मानों मेरी भर्त्सना की जा रही थी कि वह शिक्षा और अखबारनवीसी किस काम की, जो आड़े समय में गांववालों की एकमात्र सम्पत्ति--बैलों को बीमारी से नहीं बचा सकती ?

× × ×

"पंडितजी, अब कैसे गुजर होइगी ? बधिया हती सो कल्लि मरि गई। रुक्का करिकैं बधिया लई। आज भैंसि बीमार ऐ। सांझ

सबेरैं बियानहार है।" कातर दृष्टि से और भर्राई आवाज में गोविन्दा चमार ने कहा।

"भई, क्या करूं। कुछ समझ में नहीं आता। पशुओं की साधारण दवा-दारू मैं जानता हूं। उससे काम नहीं चलता। बचे-खुचे जानवरों के टीका लगवा दिया है; पर बीमार जानवरों को कौन अच्छा करे। डाक्टर उस दिन साफ जवाब दे गया और कह गया कि पीताम्बर से अधिक मैं नहीं जानता। सो दवा करते-करते और भाग-दौड़ करते बेचारा बीमार पड़ गया। सैकड़ों जानवरों को उसने बचाया है और अब वह स्वयं खाट गोड़ रहा है। कल ही उसके लिए मैंने दवा भेजी है।"—सान्त्वना देते हुए मैंने कहा।

गोविन्दा—"परि पीतू आई सकत एैं। कल्लि मैंने चौतरा (चबूतरा) पै बैठे देखे।"

मैं—"हां, तबीयत ठीक है, पर चल-फिर नहीं सकता। और फिर एक के यहां जाने से चारों ओर से दैया-तौबा मचेगी कि हमारे पौहे भी देखो। इसलिए मैंने कहला भेजा है कि जबतक अच्छे न हो जाओ, कहीं न जाओ।"

गोविन्दा (लम्बी सांस लेकर)—"सो तौ ठीक ऐ; परि मेरी भेंस मरि गई तौ फिर हिल्लौ नाएें। लरिकाबारे सबु बिलख-बिलख कें मरि जांगे।"

मैं—"अच्छा जा। कुछ करूंगा।"

× × ×

"अरे भैया, बीमारी बड़ी करी ऐ। भेंसि गाभिन ऐ। कामु तौ तौ होइ जो भैसिऊ बचि जाय और तौय (गर्भपात) ऊ न जाय।"—पीताम्बर ने गम्भीरता से कहा।

"हां हकीम, कामु तौ तबई बनै।"—मैंने अनुमोदन करते हुए कहा।

पीताम्बर ने खेतों से कुछ जड़ी-बूटी उखाड़ी और दो आने की औषधि पास के बाजार से मंगा कर दी। भैंस अच्छी हो गई और ठीक समय पर उसने बच्चा दिया। गोविन्दा का उद्धार हो गया।

पीताम्बर कुम्हार उन तपस्वी, ईमानदार परहित-कातर और परोपकारी महानुभावों में से था, जो निष्काम सेवा को मानव-जीवन की भित्ति समझते हैं। वे सेवा करते हैं किसी को दिखाने और नाम करने के लिए नहीं, वरन् इसलिए कि सेवा करना उनका स्वभाव है। कोयल की भांति, जो दूसरे के लिए नहीं, वरन् अपने लिए ही कंटकित होकर मधुर आलाप करती है।

पीताम्बर जात का कुम्हार, स्वभाव का ब्राह्मण और पेशे से किसान था। मेरा पड़ौसी—पास के गांव अंगदपुर का रहने वाला नैष्टिक पीताम्बर पशु-चिकित्सा का आचार्य था। पशुओं का कोई भी रोग ऐसा न था, जिसकी अचूक औषधि वह न जानता हो। और औषधि भी कैसी ? दस-बीस रुपये की विलायत से सील होकर आने वाली दवा ? तोबा कीजिये ! गांव के किस आदमी में इतना बूता है, जो जानवरों की औषधि में दस-बीस रुपये खर्च कर सके ? आदमियों के इलाज के लिए तो रुपया-दो-रुपया उनके पास है नहीं, जानवरों के लिये इतना खर्च कहां से और कैसे करें ? पीताम्बर की कीमती-से-कीमती दवा का मूल्य चार आने से अधिक न होता था। साधारण-सी बीमारियों के लिए, जिनके लिए अंग्रेजी दवा की कीमत चार-चार रुपया होती, पीताम्बर की दवा का मूल्य कुछ नहीं था। कुछ नहीं के मानी यह कि वह खेतों से ही जड़ी-बूटी उखाड़ कर और घर से हल्दी और फिटकरी मंगाकर अचूक दवा देता था।

चारों ओर बीसों मील दूर से उसके पास आदमी आते थे। बीमारी के दिनों में तो वह परेशान रहता था। घर पर परोसी थाली रखी है। उसकी स्त्री बाट जोह रही है। हाथ धोकर पीताम्बर चौके में जाना चाहता है कि घिघियाते आदमी आ गये कि पास के ही गांव में बैल बीमार है। खेत भरने को पड़े हैं, जुताई आधी रही है। बैल अच्छे न हुए तो सर्वनाश हो जायगा।

पीताम्बर झल्ला जाता, उसकी स्त्री बड़बड़ाती कि रोटी बनी रखी है। जानवरों के इलाज की ढोलकी गले में डाल ली है। अपने

यहां कोई बीमार होता है तब कोई पूछने भी नहीं आता। किसी प्रकार पेट में रोटी डाल कर पीताम्बर पास के गांव में दवा देने जाता।

पीताम्बर सफल किसान था। दिन-रात चींटी की भांति लगा रहता और जब लोग अपने पशुओं को दिखाने के लिए पीताम्बर को बुलाने आते तब वह आगन्तुकों में से किसी को अपने स्थान में काम करने छोड़ देता और पशुओं की चिकित्सा करने चला जाता।

नंगे पैर, मैले-कुचैले कपड़े पहने इस सीधे-सादे देहाती को देख कर कोई यह नहीं कह सकता था कि वह अपने विषय का आचार्य होगा—असाधारण आचार्य। हजारों पशुओं का उसने इलाज किया—दो-एक हजार का नहीं, दसों हजार का, और जितने पशुओं पर उसने हाथ डाला, उनमें से आठ ही मरे थे!

बात यह थी कि उसके हाथ में यश था। यश की बात को वैज्ञानिक न मानें, पर जो पावन भावनाओं में विश्वास रखते हैं और जिनका ख्याल है कि प्रेम की चितवन, मां के आशीर्वाद और विरह की तड़पन से हृदय पर आघात होता है, वे समझ सकते हैं कि औषधि देते समय पवित्र हृदय के आशीर्वाद के कुछ मानी होते हैं। ऐसा व्यक्ति दवा देते समय प्रभु से प्रार्थना करता है कि भगवन्, आपकी बनाई औषधि को मैं आपके ही बनाये जीव को दे रहा हूं। मैं तो कोई चीज नहीं, आपकी अनुकम्पा से रोगी अच्छा होगा और मुझे भी बार-बार न दौड़ना पड़ेगा—ऐसी ही भावना से पीताम्बर औषधि देता था।

ऐसे सफल चिकित्सक की आमदनी क्या होगी? प्रति पशु यदि वह चार आने भी फीस लेता तो वह दस-बीस हजार कमा लेता; पर पीताम्बर बड़प्पन की कसौटी रुपया न मानता था। उसका दृढ़ विश्वास था कि हिन्दुओं के पुराने आदर्श के अनुसार औषधि करने के लिए कुछ लेना घोर पाप—जघन्य व्यभिचार है। शिक्षा, आयुर्वेद और संगीत स्वार्थ के लिए नहीं, वरन् परमार्थ के लिए हैं। किसी का भला करके कुछ लेना वह पाप समझता था। जिसके यहां इलाज को जाता,

खाना तो दूर, पानी तक न पीता। दो-चार बार पूछ जाने पर कि हकीम, फीस क्यों नहीं लेते ? हकीम पीताम्बर बाल–स्वभावजन्य सरलता से उत्तर देता कि पण्डितजी, कुछ लेने से औषधि का असर न रहेगा और मेरे गुरु की आत्मा को कष्ट होगा ।

हकीम पीताम्बर की इन सरल बातों की फ़िलासफ़ी कितनी गूढ़ है। उसके मत से संग्रह करने की—गरीबों से फीस लेकर संग्रह करने की—लालसा भयंकर, दूषित और पापमयी थी, और दूसरों की निःस्वार्थ-सेवा धर्म का परमपद था। नाम और प्रकाश की उसे चाह न थी।

'मुझ-सा कोई गुमनाम जमाने में न होगा,
गुम हो वह नगीं, जिस पै खुदे नाम हमारा।'

× × ×

दो-चार बार बुलाकर मैंने उसकी निष्काम-सेवा की प्रशंसा की तो वह मुस्कराकर कहने लगा कि इसमें कौन-सी तारीफ की बात है। दूसरों को दवा देना तो ठीक वैसा ही है, जैसे कोई अपने पेट भरने के लिए रोटी खा ले। दवा देने से अपनी आत्मा को सन्तोष मिलता है। कई बार कोशिश की कि कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति वर्ष, दो वर्ष साथ रहकर हकीम पीताम्बर से उस विद्या को सीख ले; पर कोई व्यक्ति नहीं मिला। एक दिन मैंने ही दीक्षा लेनी चाही और उसकी औषधियों, जड़ी-बूटियों और रोगों का नाम लिखने की ठानी; पर पीताम्बर स्वयं सब जड़ी-बूटियों के नाम नहीं जानता था। उन्हें पहचानता भर था। उसके गुरू ने उसे पशु-चिकित्सा सिखाई थी और जड़ी-बूटियों की पहचान कराई थी। इस कठिनाई के कारण हकीम पीताम्बर से मैं कुछ भी न ले सका। दो-चार बार उनके फोटो लेने का भी प्रबन्ध किया, पर कोई फोटोग्राफर न मिला।

अभी उस दिन अपने नये रोलीफ्लेक्स कैमरे के आने पर हकीम पीताम्बर को मैंने बुलाया और फोटो लिया तथा उसकी मुलाकात अपने एक साहित्यिक मित्र से कराई। यह बात २७ जनवरी १९३४ की है।

पहली मार्च (१९३४) को कलकत्ते से लौटकर शिकोहाबाद स्टेशन पर पहुंचा और गांव के लिए इक्का किया। अपने आदमी से मार्ग में मालूम हुआ कि हकीम पीताम्वर की तबियत बहुत खराब है। इक्का लेकर सीधा उनके यहाँ पहुंचा—रास्ता ही अंगदपुर में होकर था। मुझे देखकर पीतम्बर के मुरझाये चेहरे पर उल्लास की रेखाएं अंकित हो गईं। उसकी आंखें कहती थीं कि बीमारी में उसका भी कोई धनीधोरी है। कितनी खामखयाली थी हकीम की! सैकड़ों बार अपने और दूसरों के पशुओं के लिए मैंने हकीम पीताम्बर को मौके-बे-मौके बुलाया था। सान्त्वना देकर मैंने कहा—"हकीम, घबराओ नहीं, आज तो रात है। कल ही तुम्हारे लिए फिरोजाबाद से डाक्टर जीवा-रामजी को बुला दूंगा।"

"बस अब के बचा लो, पंडितजी"—अवरुद्ध कंठ से पीताम्बर ने कहा। आंसुओं को रोकते हुए और ध्यान बटाने के लिए मैंने पीताम्बर को उसका फोटो निकाल कर दिया। देखकर वह प्रसन्न हो गया। घर आकर मैंने दवा की दो खुराकें भेजीं और डाक्टर जीवाराम को पत्र लिखा।

अगले दिन प्रातःकल ही नौकरी पर जाना था—हाजरी थी। पर मन में मैं लज्जित था कि नौकरी की खातिर हकीम पीताम्बर को छोड़-कर मैं क्यों जा रहा हूं! स्वार्थ और अशिष्टता के अतिरिक्त और क्या कहा जाय?

तीन दिन बाद मालूम हुआ कि हकीम पीताम्बर मेरी दवा को खाने के बाद ही बैलगाड़ी में लेटकर आधी रात के समय फिरोजाबाद गये। पेट में भयंकर पीड़ा थी। १०४ डिग्री का ज्वर था। जाड़ा था और तेज हवा चल रही थी। जीवारामजी ने एनिमा से दस्त कराया। पीताम्बर को कुछ चैन मिला। घर को लौट आया और अगले दिन उसकी बीमारी (अतड़ियों में रोक) ने इतना जोर पकड़ा कि हकीम चल बसा! उस बेचारे का इलाज भी न हो पाया!

आज हकीम पीताम्बर नहीं है और उसके साथ उसकी अनुपम विद्या भी चली गई। अखबारी दुनिया के आदमी नहीं जानते और वे डाक्टर उसे क्या समझ सकते हैं, जो रोगी को मुफ़्त औषधि देकर उससे वोट के इच्छुक होते हैं और उससे वोट न मिलने पर अपनी करनी का उलाहना देते हैं, पर हकीम पीताम्बर बहुत बड़ा आदमी था—कोरे धुंआधार और मेजतोड़ भाषण देने वाले अनेक कार्यकर्त्ताओं से बहुत ऊंचा। उसकी चरण-रज से वे अपनी आत्मा को उन्नत कर सकते थे।

हकीम पीताम्बर पर मुझे नाज़ था। इंगलैंड और अमेरिका के मित्रों से मैं उसका परिचय कराकर कहता था कि मेरे गांवों के आस-पास सरकार पशुओं के लिए कुछ न करे। हमारा हकीम बरक़रार चाहिए। ग्राम-सेवा में मैं उसे अपने से बढ़कर मानता था। उसपर मुझे भरोसा था। ग्राम-सेवा के बृहत् काम में हकीम पीताम्बर पर बड़ी-बड़ी आशाएं बांध रखी थीं। बड़े-बड़े मंसूबे बांधे थे, पर क्या किया जाय!

"हमने जो कोई शाख चुनी, शाख जल गई।"

: ३ :

जून देदी

सत्यवती मल्लिक

बाल-तल कैम्प,
भाद्रपद २००१

नक़शा खोलकर देखा गया। कोलाहाई ग्लेशियर इस ओर से पूरे दस मील, मार्ग विकट, चढ़ाई कड़ी और मीलों सीधी। इधर कई दिनों से ज़ोजीला और अमरावती की चोटियों पर घूमते-घूमते मील तो अब डग-भर का हो गया हो। एक साथी ने कहा—"लौटती बार के दस मील तो गिनने ही न चाहिए। वे तो लुढ़कते-लुढ़कते ही उतर आयंगे। निखरे आकाश का समुचित लाभ न उठाना भी बुद्धिमत्ता नहीं।"

इससे पूर्व दिन कञ्चपथरी नामक ग्लेशियर हो आने की थकावट भी हमने न उतरने दी। चुस्त पोशाकें पहनीं, दुपट्टे से कमर कस ली और किंचित पाथेय ले, एक पहाड़ी पथ-प्रदर्शक के पीछे-पीछे चल दिये।

चार मील तक सिन्धु नदी की झिलमिलाती तरंगों के साथ-साथ चलकर सरबल नामक स्थान पर कच्चे शहतीरों के पुल से होकर देखा, सामने अनेक निर्झरों, सुगन्धित बन-पुष्पों एवं झाड़ियों से युक्त एक सुहावना गिरिराज हमारे धैर्य और बल को चुनौती दे रहा है। जहां-तहां अनेक वेगवती धाराएं मानों हमपर अट्टहास कर रही हों। मार्ग हमें स्वयं ही बनाना पड़ा, क्योंकि पथ-प्रदर्शक महोदय भी कर्त्तव्य-विमूढ़-से खड़े थे।

कुछ ऊंचाई पर से 'नील नाग' नामक नितान्त बर्फ़ीली धारा को देखकर जी बठ सा गया। उसे पार करना सुगम नहीं था; किन्तु देखा, एक पहाड़ी गूजर, परिवार-सहित, ऊपर तक वस्त्र समेटे, साहस से पार पहुंचने का प्रयास कर रहा है। हम लोगों का तो उस सैकड़ों मन हिम से ढके, 'नील नाग' के क्रुद्ध फणों में स्वेच्छा से फंसने का मन न हुआ। अतः कण्टकाकीर्ण, भेड़-बकरियों वाली दीर्घ पगडंडियों का ही अवलम्बन लिया।

रास्ते में एक ख़ानाबदोश गूजरी ने जो सिर पर घर-गृहस्थी का सारा सामान उठाए जा रही थी, सावधान भी किया कि पीर (शिखर) आज आप किसी प्रकार भी पार नहीं कर सकते। यदि भगवान् की कृपा से पहुंच भी गये तो जीवन-भर स्मरण रखोगे।

वास्तव में ऐसी कठिन यात्राएं सदैव प्रातःकाल ही पूर्ण कर डालनी उचित हैं; पर हमें तो अपनी भूल उस समय समझ में नहीं आ रही थी। हम कोलाहाई शिखर आज ही पार करके पुनः लौटना और शहरी लोगों के समक्ष उत्साह एवं शक्ति को विजयपूर्वक प्रदर्शित करना चाह रहे थे।

तनिक आगे चलकर मैदान में सांस ली। पुनः सामने के ऐन सीधे, मानों तनकर खड़े, नग्न शिलाओं वाले पर्वत से सामना आरम्भ किया। पहले कुछ दूर तक विविध रंगों के वन-कुसुम थे, हरियाली थी और इतनी बढ़ती ऊंचाई से दूर सामने करा-कुर्रम की भव्य पर्वत-श्रेणियां, मध्य के धवल-शिखर, निखरे अकाश में गहरे-नीले सागर की लहरों-से जान पड़ते थे। दृश्य अलौकिक था; किन्तु चढ़ाई इतनी सख्त थी कि उससे हृदय की धड़कन निरन्तर बढ़ती जा रही थी। पहले छड़ी का सहारा लिया, पुनः उसे भी फेंककर चौपायों की भांति हाथ-पावों के बल आगे चले और कहीं-कहीं बृहत् कटीली चट्टानों पर रेंगने तक की भी नौबत आ गई।

बर्फ़, ढलान, सीधी नुकीली चट्टानें, पुनः हिम की कठोर तहें, मीलों यही क्रम था, जिसका अन्त होता आज नज़र न आता था।

हममें से दो पथिकों की शिथिल गति को देखकर शेष दोनों साथी पथ-प्रदर्शक को ले आगे निकल गये।

अन्ततः मैं अकेली ही साढ़े चौदह हजार फ़ुट की अन्तिम नुकीली चट्टान पर सांझ की बर्फ़ीली वायु के कारण हिम्मत हार कर पीछे पड़ गई, जबकि वास्तव में हम लक्ष्य के बहुत समीप पहुंच गये थे। लगा, जैसे सब पुण्य क्षीण हो चुके हों।

जी मितलाया, पेट में काफ़ी हलचल मची और हाथ-पांव सुन्न हो गये। सामने शिखर के पार्श्व में भव्यता से सूर्यास्त हो रहा था; किन्तु नीचे के सम्पूर्ण मनोहारी प्रदेश, भयावने गह्वर, बड़ी-बड़ी चट्टानें, वर्फ़ की विशाल तहें आदि सब हिंसक पशुओं के समान भयावह जान पड़ने लगे। ऊंचे से गिरने वाली शीतल धारा तो साक्षात् नाग की भांति बढ़ती आ रही थी।

अन्य साथी लौटकर कुल सौ फ़ुट ही दूसरी ओर नीचे, 'दूध-सर झील' में ग्लेशियर के हिम-मण्डित शिखर के भव्य प्रतिबिम्ब आदि का वर्णन करने लगे। पर इधर तो 'जान बची लाखों पाए' वाली उक्ति चरितार्थ हो रही थी।

सारा शरीर पसीना-पसीना, बुरी तरह लुढ़कते, लड़खड़ाते, बैठते—मेरी दशा देख सभी चिन्तित हो उठे। कन्धों पर उठाने की अवस्था मानों आ पहुंची थी। पर जाते भी कहां ? टार्च की बैटरी भी समाप्त हो गई। चारों ओर से सघन अंधकार मानों दानव-सा मुंह खोले आ रहा था। कोई आश्रय नहीं ! ठिकाना नहीं ! बालतल के डेरे में पहुंचने से भी कहीं अधिक खतरनाक है नीचे मैदान में चौपानों अथवा खाना-बदोशों के यहां रात बिताना। पर वे भी कहां दृष्टि-गोचर हैं ?

"भोर होने तक किस-किस के प्राण बचेंगे ?"—ऐसी अनेक अनिष्ट-कारी आशंकाएं मन में आ रही थीं। एक इंच भी हिलना मानों शरीर पर अत्याचार करना था। ऐसी हार जीवन में पूर्व कभी न देखी थी। फिर भी मरते-गिरते, मूर्च्छित-से किसी प्रकार मैदान तक आना ही पड़ा।

इसी समय जो कल्पनातीत स्वर्गीय घटना घटी वह आज भी स्वप्न-सी लगती है।

मीलों तक फैले उस निबिड़ अन्धकार को चीरकर सहसा सहस्र जुगनुओं का-सा आलोक हुआ और किन्हीं अपरिचित स्निग्ध हाथों ने बढ़कर मेरी झूलती देह का सम्पूर्ण भार सम्भाल लिया। उस क्षण उन देव-मूर्तियों को चीन्हने का प्रयास भी मुझसे कहां हो सकता था? कुछ ही पग दूर भोजपत्र एवं देवदारु की सुगन्धित डालों, पत्तों से निर्मित एक पर्ण-कुटीर के द्वार पर यह आलोक जा रुका। कुटीर में नीचे घास डालकर एक ओर पुराना कम्बल डाल दिया गया था। एक कोने में आग सुलगा दी गई थी। मैं जाते ही धड़ाम से गिर गई। तनिक भी बोलने की शक्ति न थी; किन्तु थोड़ी ही देर में उष्णता, कृपालुता और शुश्रूषा के ऐसे मृदुल स्पर्श से आंखें खुलीं तो देखा, सामने भोजपत्र का दीप (मशाल) जलाए एक सुन्दरी देवकन्या बैठी मुस्करा रही है। पुनः पैताने पाया अपनी प्राण-रक्षिका, सत्तर वर्षीया काश्मीरी वृद्धा को। वह अपने सुकोमल हाथों से अभी तक मेरी शिथिल प्राणहीन सी टांगों को दबा रही थी और रह-रह कर साक्षात् मातामही की भांति सिर पर हाथ फेरती थी।

इस दृश्य को देखकर हमारे एक साथी की आंखों में आंसू भर आये। वृद्धा का नाम था ज़ून देदी। ज़ून काश्मीरी भाषा में चांद और देदी मां को कहते हैं। हां तो, इसी समय उसका ज्येष्ठ पुत्र काका रहमान चौपान जंगल से लौटा। अभ्यागतों के विषय में देदी ने ब्यौरे के साथ परिचय दिया। कैसे उसने इस यात्री-दल को दूर से पर्वतारोहण के समय देख लिया था और सांझ तक न लौटने पर, अधीर हो, हमारे लिए पुत्र-पौत्रों द्वारा पर्ण-कुटीर तैयार करवा दी थी और कैसे दो व्यक्तियों को हमारे पीछे ढूंढ़ने, खबर लाने को, भेजा था!

काका ने सब कथा सुनकर—"अहा! अहा! मेहमान! मेहमान!" कहते हुए अत्यन्त उल्लास से आस-पास की पर्वत-श्रेणियों को गुंजा

दिया। पुनः देदी के आदेश से भेड़ का दूध, बढ़िया मक्की की रोटी और पनीर तुरन्त लाए गये। भेड़ का दूध पीना मैंने कभी सुना भी न था; किन्तु उस समय तो चौपान परिवार की अभ्यर्थना और आग्रह हमें अचम्भित कर रहे थे। जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों म आठ-दस बच्चे, दो-एक सुन्दरी स्त्रियां और हंस-मुख युवक जाने कितनी देर हमारे अभिनन्दन को द्वार पर खड़े रहे। हमने उन्हीं के दिये दो मिट्टी के प्यालों में बारी-बारी से रोटी-दूध डाल, अमृत के समान खाया।

रात अधिक हो रही थी। अतः मैंने उन लोगों से भोजन करने और अपनी मिट्टी की कुटिया में विश्राम करने को कहा। और सब चले गये; किन्तु देदी नहीं उठी; बैठी रहीं—जैसे वह रात भर हमारी रखवाली करना चाहती हों। मृदु स्वर में कहने लगीं—"ख्यवान छि रोज़, श्वंगान छि रोज; मेहमान मजलिस छि न रोज़-रोज़।" अर्थात्—खाना-सोना तो नित्य चलता ही रहता है, पर अतिथि और ऐसी गोष्ठियां तो भाग्य से मिलती हैं।

कठिनाई से उन्हें सोने को भेजा, किन्तु जाते-जाते भी कुटी के इर्द-गिर्द भेड़-बकरियों के झुण्ड और पालतू कुत्तों को छोड़ हमारी चौकसी का पूर्ण प्रबन्ध कर गईं।

सो हम लोग भी नहीं सके। चहुं ओर हिमानियों से घिरी साढ़े बारह हज़ार फुट की ऊंचाई, निरन्तर रिमझिम, इसपर एक ओर ढलान से अर्द्ध रूप में किंचित जल आ जाने के कारण सर्दी बढ़ गई। सो कुटीर से ही छाल, पत्ते, घास बटोर कर पुनः आग सुलगाई तथा इस प्रकार कुछ ठिठुरन दूर की।

किसी तरह जोहते-जोहते पौ फटी। उठते ही देखा, देदी सिरहाने खड़ी कुशल-समाचार पूछ रही हैं। कृतज्ञतापूर्वक हमने जून देदी और काका रहमान से विदा चाही। वे बिना चाय पिये जाने न देना चाहते थे, और न मेरी इच्छा देदी का चित्र लिये बिना लौटने की थी; किन्तु धूप व प्रकाश के लक्षण सर्वथा लुप्त थे। इधर साथी डेरे पर पहुंचने की जल्दी में थे।

देदी का चित्र नहीं लिया जा सका, पर उस असंख्य झुर्रीदार चेहरे की सौजन्यता एवं अपार वात्सल्य आजीवन भूलने की वस्तु है ? उस पार के अनुपम दृश्य देखने से वंचित कर, इस पार के अनुपम भव्य मानव-स्वरूप को देखने के निमित्त ही सम्भवतः विधि ने यह सारी रचना रची थी। आनन्द से पुलक भर आये।

आती बार पुनः कुछ क्षण स्थिरता से उन स्निग्ध, आभापूर्ण नेत्रों की ओर देखा। साथी जब तनिक आगे निकल गये तो सभ्य संसार से हज़ारों कोसों की दूरी पर, फटे चिथड़ों में ढंकी, प्राचीन संस्कृति की उस साक्षात् उज्ज्वल प्रतिमा के दोनों हाथ अपने हाथों म ले चूम सकने की प्रबल इच्छा को में न रोक सकी।

: ४ :

सेवादास

श्री हरिभाऊ उपाध्याय

सन् १९३० में नमक-सत्याग्रह करना था। प्रांतीय कांग्रेस कमेटी ने मुझे पहला डिक्टेटर बनाया था। एक ओर स्वयंसेवकों की भर्ती हो रही थी, दूसरी ओर धन-संग्रह करना था। एक दिन सब स्वयंसेवकों की मीटिंग मैंने बुलाई। उनमें एक बहुत दुबला-पतला भद्दी शक्ल का स्वयंसेवक मुझे दिखाई दिया। मुझे कुछ अरुचि-सी हुई।

पूछा—ये भाई कहां से आये हैं ?

"बंगाली हैं, बड़े मेहनती हैं।"

मुझे कुछ सन्तोष नहीं हुआ।

सन् १९३१ में जब सत्याग्रह स्थगित हुआ तो स्वयंसेवकों में से जो अच्छे और उपयोगी थे उन्हें छांटकर काम में लगाने या अधिक शिक्षण देकर योग्य बनाने के सुझाव आये। उसमें सेवादास का नाम आया। मैंने जेल-जीवन की रिपोर्ट मांगी। उनके साथ वालों ने कहा—"दा साहब, यह बंगाली पूरा 'सेवादास' है। इन्हें जरूर रक्खें।" सेवादास कांग्रेस के विश्वसनीय स्वसंसेवकों में हो गए। कांग्रेस के जो खास-खास लोग उस समय थे उनके 'स्व-जन'-जैसे बन नये। कुछ ही समय बाद मेरे परिवार में उनका प्रवेश हो गया। अब वे हमारे घर में व संस्थाओं में 'बाबा' के नाम से मशहूर हो गये हैं। उनकी 'सेवा' तो ज्यों-की-त्यों चालू है; पर उनका नाम 'सेवादास' लोगों को भूलता जा रहा है। 'बाबा' ही उनका सार्वजनिक नाम हो गया है।

कई सालों के बाद एक रोज मैंने 'बाबा' से उनके पूर्व जीवन का हाल पूछा। वे क्रांतिकारियों में थे, बाद को साधु हो गये और स्वराज्य के लिए जब महात्माजी ने सत्याग्रह का शंख फूंका तो कहीं से अजमेर आ गये। बंगाल में दुकानदारी करते थे—शायद मिठाइयों की दुकान थी।

'बाबा' बोलते कम हैं, काम ज्यादा करते हैं। जब बोलने या व्याख्यान देने का मौका आता है तो नपा-तुला बोलते हैं। पढ़े नाम-मात्र को हैं; परन्तु घटनाओं व व्यक्तियों का अध्ययन अच्छा रखते व कर लेते हैं। हमारे कुटुम्ब का व संस्थाओं का भी कोई काम ऐसा नहीं, जिसके लिए 'बाबा' की ओर विश्वास की निगाह से हम न देखते हों। चाहे घर के बच्चों को संभालना हो, चाहे गाय-बछड़े को, चाहे खेती-बाड़ी का काम हो, चाहे सौदा-सुलफ, चाहे आदमी जुटाना हो या गांवों में प्रचार करना हो, बाबा सदा तैयार। खाने-पीने को जो भी मिल जाय, कभी शिकायत नहीं, वक्त-बेवक्त हो जाय तो परवा नहीं। सवारी हो या पैदल, दिन हो या रात—बाबा 'ना' कहना नहीं जानते। अपने लिए न कभी पैसे के लिए कहते हैं, न चीज-वस्त्र को। उनकी 'जीजी' (मेरी धर्मपत्नी) उनका ध्यान रखके जो-कुछ उनके लिए करे-धरे; पर उन्हें किसी बात की चाह-परवाह नहीं। 'भजन' का अलबत्ते शौक है। रात को सोते वक्त जब काम-काज से थके होते हैं, हारमोनियम पर जोर-जोर से बंगाली ढंग से भजन गाकर अपनी थकान मिटा लेते हैं और आध्यात्मिक पोषण भी पा लेते हैं। कई बार सुबह भी उनके भजन सुने जाते हैं; लेकिन दूसरों की नींद में खलल पड़ने के डर से आजकल सुबह का कार्यक्रम प्रायः बन्द रहता है। जरूरी काम के सिवा 'बाबा' सुबह-शाम की सामूहिक प्रार्थना में आना नहीं चूकते।

बाबा रोज अखबार पढ़ते हैं, प्रधान-प्रधान घटनाओं पर दृष्टि रखते हैं। योग के अध्ययन व अभ्यास का शौक है। सादगी व तप के जीवन में आनन्द मनाते हैं। जब किसी को सादगी, त्याग, तप से दूर या दूर जाते हुए देखते हैं तो उनकी आलोचना करके उन्हें चेताया भी करते हैं। व्यवहार-बुद्धि भी काफी है। कांग्रेस में रहते हुए भी

कांग्रेस की दलबन्दियां उन्हें छू नहीं गईं। सभी दल के लोग जो उन्हें जानते हैं, समभाव से देखते हैं।

अपने आसपास कुछ मित्र मैंने ऐसे चुन लिए हैं, जिनमें मैं देवत्व के दर्शन करना चाहता हूं। सेवादास उनमें एक है। 'विभूति' को सब कोई प्रणाम करते हैं, 'विभूति' का दूसरा नाम है 'विकसित अहंता'। परन्तु जो अहन्ता को छोड़ देता है, अपने आपको भूल जाता है, अपने को सेवा या भगवान् में लीन कर देता है, उसकी प्रायः हम अवगणना करते हैं। 'न-कुछ' 'निर्बल', कहकर उसकी हंसी भी उड़ाते हैं। काम की विशालता की हम पूजा करते हैं, काम की शुद्धि व शुद्धता की कम कद्र करते हैं। यही कारण है कि बड़े विद्वानों व कर्मवीरों की यशगाथाएं सब गाते हैं; परन्तु 'सेवादासों' की ओर स्नेह से देखने की भी फुरसत हमें नहीं मिलती। हमारे इस मूल्यांकन का दोष हमें समझना चाहिए। इसी दृष्टि से सेवादास का कुछ परिचय यहां दे रहा हूं।

सन्त एकनाथ की कथा में आता है कि भगवान् ने श्रीखण्डया बन कर बहुत दिनों तक एकनाथ की सेवा की। बाद को एक घटना से नाथजी को इसकी प्रतीति हुई। तबतक वे उसे अपना नौकर ही समझते रहे। मेरा भावुक मन भी कभी-कभी अपनी मूर्खता में यह खयाल करने लगता है कि कहीं भगवान् ही तो 'सेवादास' के रूप में अपने यहां न रह रहा हो। ऐसा हो या न हो, इसमें कोई शक नहीं कि जहां शुद्धसेवा, सादगी, आत्मार्पण, निस्स्वार्थता है, वहां भगवान् का निवास अवश्य होता है।

हमारा यह आश्रम—गांधी-आश्रम—ब्रिटिश सरकार की कृपा से कई बार उजड़ा व बसा। इन तमाम उतार-चढ़ावों में हमारा 'बाबा' नदी-किनारे के वृक्ष की तरह आश्रम का 'साक्षी' रहा। जब यह 'श्मशान' की तरह लगता था तब भी बाबा अकेला यहां धूनी रमाये बैठा रहा। अब जो आश्रम फिर से लहलहा रहा है, उसमें बाबा की तपस्या कम नहीं है।

: ५ :

पंडित जयरामजी

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

सन् १८७४—

कोटले के ग्राम-स्कूल में बड़ी चहल-पहल है। इंस्पेक्टर साहब वार्षिक परीक्षा लेने आनेवाले हैं। मुदर्रिसों के दिल में बड़ी धुकधुकी मची हुई है। पं० वासुदेव सहाय (सब-डिप्टी-इंस्पेक्टर साहब) उन्हें आदेश दे रहे हैं कि किस तरह परीक्षा दिलानी चाहिए। इतने में पं० वासुदेव सहाय की दृष्टि एक तीक्ष्णबुद्धि बालक पर पड़ी। उन्होंने अध्यापक महोदय से कहा—"देखिये पंडितजी, इसे ऊंची दफा के साथ पढ़ने को खड़ा कर दीजिए। यह बुद्धिमान है।" यही किया गया।

इंस्पेक्टर साहब ने उक्त विद्यार्थी से कहा—"पुस्तक पढ़कर सुनाओ।"

लड़के ने पढ़कर सुनाया—"दाबह 'चज' उस धरती का नाम है, जो चिनाब और झेलम के बीच में है।"

साहब—"इसका मतलब कह सकता है ?"

विद्यार्थी—"चिनाव को च लयो और झेलम को ज लयो—चज बनि गयो।"

साहब ने मुंह में उंगली दी। डिप्टी-इंस्पेक्टर चकित हुए, सब-डिप्टी-इंस्पेक्टर खुश हुए, मुदर्रिस के हर्ष का क्या कहना और

लड़के आश्चर्य में एक-दूसरे का मुंह देखने लगे ! ग्राम और जिले भर के मुदर्रिसी आसमान में शोर मच गया और यह घटना जगह-जगह दोहराई गई ।

उत्सुक पाठक पूछेंगे—"यह चतुर बालक, जिसने ऐसा बढ़िया जवाब दिया, कौन था ?" यह थे श्रीधर पाठक, जो आगे चलकर खड़ी बोली के आचार्य बने। और पाठकजी की भावी उन्नति के मूल कारणों में थे उनके पूज्य गुरु पंडित जयरामजी, जो हमारे इस चरित के नायक हैं। आज स्वर्गीय पं० श्रीधर पाठक से हिन्दी-जगत भलीभांति परिचित हैं; पर उन्हें उन्नति के पथ पर रखने वाले पं० जयरामजी से हिन्दी-संसार सर्वथा अपरिचित है।

जब परीक्षा-सम्बन्धी उपर्युक्त घटना घटी, पं० जयरामजी उन दिनों फीरोज़ाबाद के स्कूल में पढ़ाते थे । उन्हें यह सुनकर बड़ा हर्ष हुआ और उन्होंने तुरन्त यह निश्चित कर लिया कि इस तीक्ष्णबुद्धि विद्यार्थी को अपने स्कूल में लाना चाहिए। इसलिए वे इस परीक्षा के पन्द्रह-बीस दिन बाद ही अपने एक नायब मुदर्रिस को लेकर पाठकजी के पिताजी से मिलने के लिए जौंधरी ग्राम के लिए रवाना हो गये। पाठकजी के पिता पूज्य पं० लीलाधरजी रास्ते में ही मिल गये। परस्पर अभिवादन के बाद पं० जयरामजी ने लीलाधरजी से आग्रह किया कि आप अपने लड़के को आगे पढ़ने के लिए फीरोजाबाद के तहसीली स्कूल में भेज दीजिए। पं० लीलाधरजी जयरामजी के साथ जौंधरी पहुंचे। उन्होंने श्रीधर की परीक्षा ली, भाषाभास्कर में से अनेक प्रश्न किये, जिनके उत्तर पाठकजी ने ठीक-ठीक दे दिये। फिर रेखागणित आदि के सवाल किये । उनका भी ठीक-ठीक उत्तर मिला। पं० जयरामजी ने श्रीधर की पीठ ठोंकी और कहा—"चलो हमारे साथ, तुमैं पिरोजाबाद में पढ़ामिंगे ।"

पं० लीलाधरजी का विचार श्रीधर को आगे पढ़ाने का नहीं था और पाठकजी को भी इसकी आशा नहीं थी। यह सुनकर वे बहुत खुश हुए। पाठकजी फीरोजाबाद पधारे। छः-सात महीने बाद उन्होंने

हिन्दी की प्रवेशिका-परीक्षा पास की और इसमें वे सम्पूर्ण पश्चिमोत्तर प्रदेश में अव्वल रहे। सन् १८७९ में अँग्रेजी मिडिल परीक्षा दी और उसमें भी प्रान्त भर में प्रथम रहे। सन १८८० में प्रथम श्रेणी में एन्ट्रेन्स पास किया। उसके बाद साहित्य-क्षेत्र में आने पर पाठकजी को जो कीर्ति तथा सम्मान मिला, उसे हिन्दी जगत् भलीभांति जानता ही है।

देश के दुर्भाग्य से अब पंडित जयरामजी जैसे आदर्श प्रेमी अध्यापक ग्राम-पाठशालाओं में नहीं रहे। अंग्रेजी स्कूलों तथा कालेजों के अध्यापकों के विषय में कुछ न कहना ही ठीक होगा।

मई १९२० में मुझे पद्मकोट में स्वर्गीय पं० श्रीधर पाठक की सेवा में लगभग दो सप्ताह रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय पण्डित जयरामजी का जिक्र आने पर पाठकजी ने उनकी बड़ी प्रशंसा की। मैंने उनसे अनुरोध किया कि पण्डित जयरामजी के विषय में मुझे कुछ लिखा दीजिए। उन्होंने कहा, अच्छा लिखो और निम्न-पंक्तियां बोलकर लिखाईं——

"पूज्य पण्डित जयरामजी उन हिन्दुस्तानी ग्रामीण सज्जनों के नमूना थे, जिनके कारण ग्राम्य समाज अपना गौरव-युक्त स्थान सुरक्षित किये हुए है। उनमें वे सब गुण थे, जो एक साधारण मनुष्य को सच्चे मनुष्यत्व की पदवी प्रदान करते हैं। सबसे प्रथम उनके गुणों में गणनीय उनका स्वास्थ्य था। उनका भव्य मुखमण्डल——जिसमें बुद्धि की तीव्रता, सात्विक भावव्यंजक मस्तक की विशालता, आन्तरिक महत्वप्रदर्शक नेत्रों की तेजस्विता, गौरवर्ण की समुज्ज्वलता-सहित अपनी-अपनी सत्ता का स्वतन्त्र रीति से साक्ष्य देती थीं——उनके मित्र और शिष्यवर्ग के हृदय पर शाश्वत प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति रखता था। वे सब प्रकार की सहनशीलता की मूर्ति थे। मुझको उनमें कोई भी अवगुण दृष्टि नहीं आता था। वे प्रायः अपने सिर को एक सफेद रंग की बड़ी पगड़ी से विभूषित रखते थे, लम्बा अंगा पहनते थे और जहां वह जा निकलते थे, प्रतिष्ठित गौरव का रूप बंध जाता था। जो उनको देखता था

रोब में आ जाता था और उनकी इज्जत करता था। एक दफा पण्डितजी की आगरा-कालेज के बोर्डिंग-हाउस में वहां के सुपरिन्टेन्डेन्ट माम्टर सालिगराम से मुलाकात हुई। मास्टरजी के पूछने पर कि आप कब तशरीफ लाये, उन्होंने जवाब दिया-- 'हूं, सा' ब,' चारि बजे की गाड़ी पै आयो हो।' वे अधिकतर ऐसी ही ग्राम्य भाषा का व्यवहार किया करते थे और वह उनके मुख से एक विशेष महत्व और रुचिरता लिए हुये श्रवणों को आनन्द देती थी।"

पण्डित जयरामजी का जन्म संवत् १९०० के लगभग हुआ था। उनके पिता पण्डित केसरीसिंहजी बड़े धार्मिक ब्राह्मण थे और उनका अधिकांश समय पूजा-पाठ और तीर्थ-प्रवास में ही व्यतीत हुआ था। जयरामजी उनके इकलौते पुत्र थे। पढ़-लिखकर आप नारखी के हलका-बन्दी स्कूल में शिक्षक हो गये और उनका काम वहां बड़ा सन्तोषजनक रहा। इसलिए जब फीरोजाबाद के तहसीली स्कूल में हेडमास्टरी की जगह खाली हुई तो वे नारखी से फीरोजाबाद को भेज दिये गए। जब वे फीरोजाबाद पहुंचे तो वहां के पुराने मदर्रिसों ने पहले तो बड़े उत्पात मचाये और यह कहना शुरू किया—"ये गंमार आये हैं। ये क्या इन्तजाम करेंगे ?" पर अपनी मेहनत और कोशिश से पण्डित जयरामजी ने मदरसे को जिले का सर्वोत्तम स्कूल बना दिया और इस प्रकार अपने विरोधियों का मुंह बन्द कर दिया। फीरोजाबाद नगर में जो शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति हुई है, उसका श्रेय अधिकांश में पण्डित जयरामजी को ही मिलना चाहिए। हमारे पूज्य पिता पण्डित गणेशीलालजी चतुर्वेदी ने, पण्डित जयरामजी के ही चरणों के निकट बैठकर शिक्षा पाई थी। हमारी प्रार्थना पर ७८ वर्ष की उम्र में कक्का ने अपने पूज्य गुरु के जो संस्मरण लिखाये थे, हम उन्हें यहां दिये देते हैं :

"जब पं० जयरामजी फीरोजाबाद पहुंचे और उनके पढ़ाने की कीर्ति चारों ओर फैली तो मेरे बहनोई के भाई जमनादासजी मुझे लेकर पं० जयरामजी के पास गये और बोले, "यह लड़का अनाथ है।

पढ़ाना-लिखाना आपके हाथ ह। रोटी-कपड़ा हम देते हैं।" पं० जयरामजी ने हमको किताबें ही नहीं ले दी थीं, बल्कि हमारी फीस भी वे अपने पास से भरते थे। ऐसे कितने ही अनाथ विद्यार्थियोंको पढ़ा-पढ़ाकर उन्होंने होशियार बना दिया। हमारे एक साथी थे, जिनका नाम था नन्दराम। उनके पिताजी की यह हालत थी कि थोड़े से चने पोटली में लेकर बंजी किया करते थे और आवाज लगाते—'टाट, कम्बल, गुड़हर, लोहा, नामा, बीनन, दमड़ी, छदाम।' न वे फीस दे सकते थे और न किताबें ही मोल ले सकते थे।"*

"पढ़ने का हम लोगों को खूब शौक दिला दिया था। आपस में एक दूसरे से होड़ करा दिया करते थे कि देखें, कौन ज्यादा पढ़ ले। जब छुट्टियों में घर जाते तो इस प्रकार के सवाल बोल जाते थे :

---

* इस विषय में पं० जयरामजी के एक अन्य शिष्य पं० हज़ारीलालजी चतुर्वेदी ने लिखाया था—"पं० नन्दरामजी के माता-पिता को अक्सर भूखे रह जाना पड़ता था। नन्दराम की मां अपने चूल्हे में झूठ मूठ आग लगाकर धुआं लगा देती थीं, जिससे मुहल्ले वाले यह न जान पावें कि उनके घरमें भोजन नहीं बना है। ग़रीबी ऐसी भीषण थी कि जयरामजी कभी-कभी गायों को दी हुई रोटी खाकर अपना पेट भरते थे। वे अक्सर घरों में सीधा लेने चले जाते और मदरसे देर से पहुंचते। एक दिन देर से मदरसे पहुंचने पर पंडितजी ने जब कारण पूछा तो उनको ग़रीबी का पता चला। पंडितजी उसी समय बोले, 'अच्छा, आज से तू यहीं खाइबौ कर और जो कऊं अब देरि में आयौ तो गंगा धुआई ऐसी मार लगाउंगो।' तब से नन्दरामजी पंडितजी के ही चौके में भोजन करते थे और वहीं पढ़ते थे। आगे पढ़ लिखकर पं० नन्दरामजी फीरोजाबाद के अंगरेज़ी मिडिल स्कूल के हेडमास्टर हो गये और बड़ी शान की हेडमास्टरी की।"

—लेखक

(१) एक बनिये की बारात में बनिये, ब्राह्मण और ठाकुर आये। लड़केवाले ने सौ थालियां इकट्ठी कीं। सौ ही बराती आये थे। ब्राह्मणों ने कहा, हम एक-एक ब्राह्मण चार-चार थाली लेंगे। ठाकुरों ने कहा, दो-दो हम भी लेंगे। तब बनियों ने सोचा कि विवाह तो हम बनियों का बिगड़ा जाता है। इसलिए उन्होंने कहा कि हम चार-चार बनिये एक ही थाली में खायेंगे। सौ-सौ थालियों में सौऊ आदमी जीमि गये। बताओ, हरएक जाति के कितने-कितने बराती थे ?

(२) सौ गज़ कपड़े में सौ कपड़े बनाओ—तीन गज़ में पायजामा, आध गज़ में टोपी और दस गज में जामा।

(३) एक राजा के नौ लड़के थे और इक्यासी भैंसें थीं। पहली भैंस एक सेर दूध, दूसरी दो सेर, इसी तरह इक्यासीवीं भैंस इक्यासी सेर दूध देती थी। राजा ने नौ-नौ भैंसें हरएक लड़के को बांट दीं और दूध भी बराबर-बराबर मिला। बताओ उसने किस प्रकार बंट-वारा किया ?

(४) ४५ में से ४५ इस प्रकार से घटाओ कि ४५ ही बचें।

(५) एक जमींदार के पांच लड़के थे। एक को सौ मन अनाज दिया, दूसरे को ८० मन, तीसरे को ६० मन, चौथे को ४० मन और पांचवें को २० मन। और कहा कि एक भाव बेचो और बराबर-बराबर रुपये लाओ। बताओ, उन्होंने कैसे अनाज बेचा ?

(६) एक पुरुष परदेश जाते समय अपनी स्त्री से कह गया कि यदि तेरे लड़का हो तो ६०) खर्च करना और ४०) अपने काम में लाना और यदि लड़की हो तो ४०) खर्च करना और ६०) अपने काममें लाना। दैवयोग से उसके लड़का और लड़की दोनों ही हुए। बताओ, वह स्त्री क्या तो खाय और क्या खर्च करे ?

"पंडितजी गणित के गुर लीलावती आदि पोथियों से दोहा-चौपाइयों में और श्लोकों में भी याद कराया करते थे। उनका याद कराया हुआ एक कायदा है—

'श्रेणी फलादुत्तरलोचनिघ्ना चयादि वक्रान्तर्वर्ग युक्तः
मूलं मुखोनम चयखण्डयुक्त तयोद्धृतं गच्छ मुदाहरन्ति ।'

यह गच्छ निकालने का क़ायदा है। चौबे लोगों के विषय में उनका एक प्रश्न था—

'पाव सवाये घौंटें भंग, आधे बैठे देखैं रंग,
षष्ठमांशके खाय अफीम बाइस गये जमुन के तीर,
मानुष संख्या कितनी भई। सो तुम हमसे कहियो सही ?'
'आधी कींच तिहाइ जल दसमें हिसा सिवार,
वामन गज ऊपर रही सिला कितक विस्तार ?'
'राधिका मोहन प्रीति करी इक पंकज-राशि करी जल में,
तीजो हिसा शिव शीश धरे और पंचम विष्णु के पूजन में,
चौथो हिसा जगदम्बै दयो रवि को षट् भाग दयो मन में,
शेष रहे छै फूल तहां सो कहो सब कितने गिन्तिन में ?'

"पंडित जयरामजी बड़े मनोरंजक ढंग से पढ़ाते थे। सबको हंसाते-खिलाते पढ़ा दिया करते थे। बीच-बीच में ऐसी बातें कहते जाते थे कि हम सब बहुत खुश होते थे। एक बार उन्होंने सुनाया—'एक पटवारी जोड़ लगा रहा था। कहता जाता था—इक्यानवे की एक हाथ लागी ९, बहत्तर की दो हाथ लागी ७, पचासी की पांच हाथ लागी ७। किसानों ने देखा कि पटवारी आप तो आठ-आठ नौ-नौ हाथ लगाता है और हमें एक-एक दो-दो में टरकाता है, सो उन्होंने पटवारी को मार-ठोंक डाला !'

"रेखागणित, बीजगणित, हिसाब, पैमाइश—इन चारों को रियाज़ी कहा जाता है, सो लोग कहा करते थे कि पं० जयरामजी ने रियाज़ी को पाजी बना के छोड़ दिया है, इस क़दर इन विषयों में वे होशियार थे। बीजगणित के वर्गसमीकरण, मूलमीकरण और अनेक वर्गसमीकरण मैंने पंडितजी से ही पढ़े थे। अब तो पहले की अपेक्षा बहुत कम हिसाब हिन्दी-स्कूलों में पढ़ाया जाता है।

"मेरे ऊपर उनकी खास कृपा थी। उनका मेरे लिए आशीर्वाद था—'जा, खुश रहेगा।' उन्हींके आशीर्वाद से ७८ वर्ष की उम्रमें तन्दुरुस्त हूँ और पंडितजी के आशीर्वाद का प्रभाव यहां तक है कि मैंने भी जिन्हें पढ़ाया है, वे भी आनन्द से हैं। मुझे तो उनकी वाणी सिद्ध मालूम हुई कि जिस किसी के लिए उन्होंने जो कुछ कह दिया, वही हो गया। वे कहा करते थे—'गंगा धुआई, मेरे मुंहमें बत्तीस दांत हैं और मोइ हर बख़त खियाल रहतु ऐ कि मेरे मुंह तें काऊके लऐं बुरी बात न निकसै।' जब मैं पढ़-लिखकर छः रुपये महीने पर एक ग्राम-स्कूल का मुदर्रिस बन गया तो मेरे लिए उनका हुक्म था—'गनेसा, जब घर से मदरसे को जा, तब मेरे पास होकर जा और जब गांव के मदरसे से आवे तो मेरे पास होकर घर को जा।'

"यदि मैं कभी भूलकर गांव से बिना उनके दर्शन किए सीधा घर पहुंच जाता और पीछे उनकी सेवा में हाजिर होता तो व्यंगमयी भाषा में वे कहते—'तुस्सिया (तुलसीराम, उनके नायब) मूंढ़ा लाइये, चौबेजी महाराज आये हैं!' और फिर मेरी ओर मुखातिब होकर कहते—'चौबे-जी, कबसे आये हैं आप ?' मैं उस समय अत्यन्त लज्जित होता था। उन्हें इस बात की बड़ी चिन्ता रहती थी कि उनका कोई भी शिष्य स्कूल में गैरहाजिरी करके कर्तव्यच्युत न हो। हाजिरी पर जोर देते हुए वे मुझसे कहा करते थे—'गनेसा, जो तू गैरहाजिर रहौ, तो गंगा धुआई, हूं तेरी अर्जी बिना दागे नहीं मानुंगो।' फिर कहते थे—'गंगा धुआई, तू गाममें बैठो रहि कोऊ आंखऊ मिलाई जाय, पर हाजिर रहि।' उन्हीं के आदेश के अनुसार पचास वर्ष की मुदर्रिसी में (सन् १८७५ से १९२५ तक) मुझे नीची आंखें करने का मौका नहीं आया।

"विद्यार्थियों की स्वल्पाहारिता पर बड़ा ध्यान रखते थे। गांव के लड़कों से पूछते थे—'तू कै रोटी खाइगौ ?' उत्तर में किसी ने कहा 'चार', तो उसे तीन रोटी ही दी जाती थीं। कहा करते थे—'खाओ चाहे चार पोत, पर थोड़ा-थोड़ा खाओ।' लड़कों के दुख-दर्द का खास

ख़याल रखते थे । उनके बीमार पड़ने पर उनके घर पर जाया करते थे। पढ़ने-लिखने की हालत में उन्होंने लड़कों को स्वतन्त्रता दे रखी थी कि धूप, छाया, चाहे जहां बैठकर पढ़ो। डिप्टी-इन्स्पेक्टर चौबे कुंजबिहारीलाल उनसे बहुत खुश रहा करते थे। चौबेजी से उन्होंने कह दिया था—'पढाऊंगा मैं, और नौकरी आपको देनी पड़ेगी।

"अपने पढ़ाए हुओं के काम को अगर कुछ उन्नीस सुनते तो उन्हें बड़ा खेद होता। एक बार उन्होंने कहा—'मैंने...को लादूखेड़े में मुदर्रिस बनाकर भिजवाया है; पर उसका काम उन्नीस सुना जाता है। अगर मुझे पहले से ऐसा मालूम होता तो मैं गनेसा को भेजता। वह लादूखेड़े को देवखेड़ा बना देता।' जहां-जहां काम बिगड़ा, उन्होंने मुझे भिजवाया। कह देते थे—'भेज देउ गनेसा कौं।' उनके आशीर्वाद से हमने बिगड़े मदरसों को बनाया और उनके आशीर्वाद से ही खूब नाम पाया। पंडितजी बड़े प्रातःकाल ही स्नान कर लिया करतें थे। मेले-तमाशे में कभी न जाते थे। जब कभी हम लोग बहुत ज़िद करते तो हम लोगों को लेकर जाते और थोड़ी देर देख-भालकर हम लोगों को पीछे छोड़ आते। अपने काम को मुख्य समझते थे।

"५९ वर्ष पहले का—सन् १८७५ का—दृश्य अब भी मेरी आंखों के सामने है। में पढ़-लिखकर ६) रुपये महीने पर मुदर्रिस हो गया था। जब मुझे पहले महीने की तनख्वाह मिली तो छुट्टी के दिन मैं पंडितजी की सेवा में पहुंचा। उनके चरण छुए और पहले महीनेकी तनख्वाह उनकी भेंट की। उन्होंने हाथ से छूकर मुझे आशीर्वाद के साथ वापस कर दी और कहा—'जा बेटा, पहलैं डोकरा (जमनादास मेरे पूज्य) को दीजे।' उसके बाद जब मैंने उन्हें उनके नायब मुदर्रिसों के साथ निमन्त्रण दिया तब जो अत्यल्प भेंट उनकी सेवा में अर्पित की, वह उन्होंने सहर्ष ले ली।

"अब मैं ७८ वर्ष का हो चुका। पंडितजी के आशीर्वाद से स्वस्थ हूं। उनकी याद अब भी आ जाती है। अब वैसे शिक्षक कहां देखने को मिल सकते हैं ?"

पं० जयरामजी का देहान्त संवत् १९३६ में फीरोज़ाबाद के मदरसे में हुआ। उस वर्ष देश में विषम ज्वर की महामारी फैली थी। उसीसे उनका ३६ वर्ष की उम्र में स्वर्गवास हो गया।

पं० जयरामजी की पत्नी बहुत दिनों तक जीवित रहीं। उनके दर्शन करने का सौभाग्य हमें भी प्राप्त हुआ था। उनके विषय में कक्का ख्यालीरामजी ने जयरामजी के पौत्र हिन्दी के सुलेखक श्री मंगलदेव शर्मा से कहा था––"तुम्हारी दादी ढेर-की-ढेर रोटियां बनाया करती थीं। सब गरीब लड़के ही खाया करते थे।" पं० जयरामजी के पुण्य का एक अच्छा अंश प्रातःस्मरणीय महामातुश्री को ही मिलना चाहिए।

स्मृति की रेखाएं

१. चीनी यात्री
महादेवी वर्मा
२. कैदी
सत्यवती मल्लिक
३. बड़ी बी
अख्तर हुसेन रायपुरी
४. टीपू सुलतान
विष्णु प्रभाकर

: १ :

चीनी यात्री

श्री महादेवी वर्मा

मुझे चीनियों में पहचान कर स्मरण रखने योग्य विभिन्नता कम मिलती है। कुछ समतल मुख एक ही सांचे में ढले-से जान पड़ते हैं और उनकी एकरसता दूर करने वाली, वस्त्र पर पड़ी हुई सिकुड़न जैसी नाक की गठन में भी विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। कुछ तिरछी अधखुली और विरल भूरी वरुनियों वाली आंखों की तरल रेखाकृति देखकर भ्रान्ति होती है कि वे सब एक नाप के अनुसार किसी तेज़ धार से चीर कर बनाई गई हैं। स्वाभाविक पीतवर्ण धूप के चरण-चिह्नों पर पड़े हुए धूल के आवरण के कारण कुछ ललछौंहें सूखे पत्ते की समानता पा लेता है। आकार, प्रकार, वेशभूषा सब मिलकर इन दूर-देशियों को यन्त्रचालित पुतलों की भूमिका दे देते हैं, इसीसे अनेक बार देखने पर भी एक फेरी वाले चीनी को दूसरे से भिन्न करके पहचानना कठिन है।

पर आज मुखों की एकरूप समष्टि में मुझे एक मुख आर्द्र नीलिमा-मयी आंखों के साथ स्मरण आता है जिसकी मौन भंगिमा कहती है—हम कार्बन की कापियां नहीं हैं। हमारी भी एक कथा है। यदि जीवन की वर्णमाला के सम्बंध में तुम्हारी आंखें निरक्षर नहीं हैं तो तुम पढ़कर देखो न!

कई वर्ष पहले की बात है। मैं तांगे से उतर कर भीतर आ रही थी और भूरे कपड़े का गट्ठर बाएं कन्धे के सहारे पीठ पर लटकाये हुए

और दाहने हाथ में लोहे का गज़ घुमाता हुआ चीनी फेरीवाला फाटक से बाहर निकल रहा था। सम्भवतः मेरे घर को बन्द पाकर वह लौटा जा रहा था। 'कुछ लेगा मेम साब'—दुर्भाग्य का मारा चीनी ! उसे क्या पता कि यह सम्बोधन मेरे मन में रोष की सब से तुंग तरंग उठा देता है। मइया, माता, जीजी, दिदिया, बिटिया आदि॰न जाने कितने सम्बोधनों से मेरा परिचय है और सब मुझे प्रिय हैं, पर यह विजातीय सम्बोधन मानों सारा परिचय छीनकर मुझे गाउन में खड़ा कर देता है। इस सम्बोधन के उपरान्त मेरे पास से निराश होकर न लौटना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

मैंने अवज्ञा से उत्तर दिया, "मैं विदेशी—फ़ॉरेन—नहीं ख़रीदती।" "हम फ़ॉरेन है ? हम तो चाइना से आता है।" कहने वाले के कण्ठ में सरल विस्मय के साथ उपेक्षा की चोट से उत्पन्न चोट भी थी। इस बार रुककर, उतर देने वाले को ठीक से देखने की इच्छा हुई। धूल से मटमैले सफ़ेद किरमिच के जूते में छोटे पैर छिपाये, पतलून और पैजामे का सिम्मिश्रित परिणाम जैसा पैजामा और कुरते तथा कोट की एकता के आधार पर सिला कोट पहने, उधड़े हुए किनारों से पुरानेपन की घोषणा करते हुए हैट से आधा माथा ढके, दाढ़ी-मूंछ-विहीन दुबली नाटी जो मूर्त्ति खड़ी थी वह तो शाश्वत चीनी है। उसे सबसे अलग करके देखने का प्रश्न जीवन में पहली बार उटा।

मेरी उपेक्षा से उस विदेशीय को चोट पहुंची, यह सोचकर मैंने अपनी 'नहीं' को और अधिक कोमल बनाने का प्रयास किया, "मुझे कुछ नहीं चाहिए भाई !" चीनी भी विचित्र निकला—"हमको भाय बोला है तब जरूल लेगा, जरूल लेगा—हां ?" होम करते हाथ जला वाली कहावत हो गई। विवश कहना पड़ा, "देखूं, तुम्हारे पास है क्या ?" चीनी बरामदे में कपड़े का गट्ठर उतारता हुआ कह चला, "भोत अच्चा सिल्क लाता है, सिस्तर ! चाइना सिल्क, क्रेप"…बहुत कहने-सुनने के उपरान्त दो मेजपोश ख़रीदना आवश्यक हो गया। सोचा—चलो, छुट्टी हुई। इतनी कम बिक्री होने के कारण चीनी अब कभी इस ओर आने की भूल न करेगा।

पर कोई पन्द्रह दिन बाद वह बरामदे में अपनी गठरी पर बैठकर गज़ को फ़र्श पर बजा-बजाकर गुनगुनाता हुआ मिला। मैंने उसे कुछ बोलने का अवसर न देकर व्यस्त भाव से कहा—"अब तो मैं कुछ न लूंगी। समझे।" चीनी खड़ा होकर जेब से कुछ निकालता हुआ प्रफुल्ल मुद्रा से बोला, "सिस्तर का वास्ते हैंकी लाता है—भोत बेस्त, सब सेल हो गया। हम इसको पाकेत में छिपा के लाता है।"

देखा, कुछ रूमाल थे। ऊदी रंग के डोरे से भरे हुए किनारों का हर घुमाव और कोनों में उसी रंग से बने नन्हें फूलों की प्रत्येक पंखुड़ी चीनी नारी की कोमल उंगलियों की कलात्मकता ही नहीं व्यक्त कर रही थी, जीवन के अभाव की करुण कहानी भी कह रही थी। मेरे मुख के निषेधात्मक भाव को लक्ष्य कर अपनी नीली रेखाकृति आंखों को जल्दी-जल्दी बन्द करते और खोलते हुए वह एक सांस में "सिस्तर का वास्ते लाता है, सिस्तर का वास्ते लाता है," दोहराने-तिहराने लगा।

मन में सोचा कि अच्छा भाई मिला है। बचपन में मुझे लोग 'चीनी' कहकर चिढ़ाया करते थे। सन्देह होने लगा कि उस चिढ़ाने में कोई तत्व भी रहा होगा, अन्यथा आज सचमुच का चीनी, सारे इलाहाबाद को छोड़कर मुझसे बहन का सम्बन्ध क्यों जोड़ने आता! पर उस दिन से चीनी को मेरे यहां जब-तब आने का विशेष अधिकार प्राप्त हो गया। चीन का साधारण श्रेणी का व्यक्ति भी कला के सम्बन्ध में विशेष अभिरुचि रखता है, इसका पता भी उसी चीनी की परिष्कृत रुचि में मिला।

नीली दीवार पर किस रंग के चित्र सुन्दर जान पड़ते हैं, हरे कुशन पर किस प्रकार के पक्षी अच्छे लगते हैं, सफेद पर्दे के कोनों में किस बनावट के फूल-पत्ते खिलेंगे आदि के विषय में चीनी उतनी ही जानकारी रखता था जितनी किसी अच्छे कलाकार में मिलेगी। रंग से उसका अति परिचय यह विश्वास उत्पन्न कर देता था कि वह आंखों पर पट्टी बांध देने पर भी केवल स्पर्श से रंग पहचान लेगा।

चीन के वस्त्र, चीन के चित्र आदि की रंगमयता देखकर भ्रम होने लगता है कि वहां की मिट्टी का हर कण भी इन्हीं रंगों से रंगा हुआ न हो। चीन देखने की इच्छा प्रकट करते ही 'सिस्तर का वास्ते हम चलेगा', कहते-कहते चीनी की आंखों की नीली रेखा प्रसन्नता से उजली हो उठती थी।

अपनी कथा सुनाने के लिए भी वह विशेष उत्सुक रहा करता था; पर कहने-सुननेवाले के बीच की खाई बहुत गहरी थी। उसे चीनी और बर्मी भाषाएं आती थीं जिनके सम्बन्ध में अपनी सारी विद्या-बुद्धि के साथ मैं 'आंखों के अन्धे नाम नैनसुख' की कहावत चरितार्थ करती थी। अंग्रेजी की क्रियाहीन संज्ञाएं और हिन्दुस्तानी की क्रियाओं के सम्मिश्रण से जो विचित्र भाषा बनती थी उसमें कथा का सारा मर्म बंध नहीं पाता था। पर जो कथाएं हृदय का बांध तोड़कर, दूसरों को अपना परिचय देने के लिए बह निकलती हैं वे प्रायः करुण होती हैं और करुणा की भाषा शब्दहीन रहकर भी बोलने में समर्थ है। चीनी फेरीवाले की कथा भी इसका अपवाद नहीं।

जब उसके माता-पिता ने मांडले आकर चाय की छोटी दुकान खोली तब उसका जन्म नहीं हुआ था। उसे जन्म देकर और सात वर्ष की बहन के संरक्षण में छोड़कर जो परलोक सिधारी उस अनदेखी मा के प्रति चीनी की श्रद्धा अटूट थी।

सम्भवतः मा ही ऐसा प्राणी है जिसे कभी न देख पाने पर भी मनुष्य ऐसे स्मरण करता है जैसे उसके सम्बन्ध में कुछ जानना बाकी नहीं। यह स्वाभाविक भी है।

मनुष्य को संसार से बांधने वाला विधाता मा ही है, इसीसे उसे न मानकर संसार को न मानना सहज है; पर संसार को मान कर उसे न मानना असम्भव ही रहता है।

पिता ने जब दूसरी बर्मी-चीनी स्त्री को गृहिणी-पद पर अभिषिक्त किया तब उन मातृहीनों की यातना की कठोर कहानी आरम्भ हुई। दुर्भाग्य इतने से ही संतुष्ट नहीं हो सका; क्योंकि उसके पांचवें वर्ष में पैर रखते न रखते एक दुर्घटना में पिता ने भी प्राण खोये।

अन्य अबोध बालकों के समान उसने सहज ही अपनी परिस्थितियों से समझौता कर लिया, पर बहन और विमाता में किसी प्रस्ताव को लेकर जो वैमनस्य बढ़ रहा था वह इस समझौते को उत्तरोत्तर विषाक्त बनाने लगा। किशोरी बालिका की अवज्ञा का बदला उसी को नहीं, उसके अबोध भाई को कष्ट देकर भी चुकाया जाता था। अनेक बार उसने ठिठुरती हुई बहन की कम्पित उंगलियों में अपना हाथ रख, उसके मलिन वस्त्रों में अपना आंसुओं से धुला मुख छिपा और उसकी छोटी-सी गोद में सिमट कर भूख भुलाई थी। कितनी ही बार सबेरे, आंख मूंद कर बन्द द्वार के बाहर दीवार से टिकी हुई बहन की ओर से गीले बालों में, अपनी ठिठुरी हुई उंगलियों को गर्म करने का व्यर्थ प्रयास करते हुए, उसने पिता के पास जाने का रास्ता पूछा था। उत्तर में बहन के फीके गाल पर चुपचाप ढुलक आनेवाले आंसू की बड़ी बूंद देखकर वह घबराकर बोल उठा था—उसे कहवा नहीं चाहिए। वह तो पिता को देखना भर चाहता है।

कई बार पड़ोसियों के यहां रकाबियां धोकर और काम के बदले भात मांगकर बहन ने भाई को खिलाया था। व्यथा की कौनसी अन्तिम मात्रा ने बहन के नन्हें हृदय का बांध तोड़ डाला, इसे अबोध बालक क्या जाने! पर एक रात उसने बिछौने पर लेटकर बहन की प्रतीक्षा करते-करते आधी आंख खोली और विमाता को कुशल बाजीगर की तरह, मैली-कुचैली बहन का कायापलट करते देखा : उसके सूखे ओठों पर विमाता की मोटी उंगली ने दौड़-दौड़ कर लाली फेरी, उसके फीके गालों पर चौड़ी हथेली ने घूम-घूम कर सफ़ेद गुलाबी रंग भरा, उसके रूखे बालों को कठोर हाथों ने घेर-घेर कर संवारा और तब नये रंगीन वस्त्रों में सजी हुई उस मूर्त्ति को एक प्रकार से ठेलती हुई विमाता रात के अन्धकार में बाहर अन्तर्हित हो गई!

बालक का विस्मय भय में बदल गया और भय ने रोने में शरण पाई। कब वह रोते-रोते सो गया इसका पता नहीं, पर जब वह किसी के स्पर्श से जागा तो बहन उस गठरी बने हुए भाई के मस्तक पर मुख

रखकर सिसकियां रोक रही थी। उस दिन उसे अच्छा भोजन मिला, दूसरे दिन कपड़े, तीसरे दिन खिलौने——पर बहन के दिनोंदिन विवर्ण होने वाले ओठों पर अधिक गहरे रंग की आवश्यकता पड़ने लगी, उसके उत्तरोत्तर फीके पड़नेवाले गालों पर देर तक पाउडर मला जाने लगा।

बहन के छीजते शरीर और घटती शक्ति का अनुभव बालक करता था, पर वह किससे कहे, क्या करे, यह उसकी समझ के बाहर की बात थी। बार-बार सोचता था कि पिता का पता मिल जाता तो सब ठीक हो जाता। उससे स्मृतिपट पर मा की कोई रेखा नहीं; परन्तु पिता का जो अस्पष्ट चित्र अंकित था उससे उनके स्नेहशील होने में सन्देह नहीं रह जाता। प्रतिदिन निश्चय करता कि दूकान में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति से पिता का पता पूछेगा और एक दिन चुपचाप उनके पास पहुंच और उसी तरह चुपचाप उन्हें घर लाकर खड़ा कर देगा। तब यह विमाता डर जायगी और बहन कितनी प्रसन्न होगी !

चाय की दूकान का मालिक अब दूसरा था; परन्तु पुराने मालिक के पुत्र के साथ उसके व्यवहार में सहृदयता कम नहीं रही, इसीसे बालक एक कोने में सिकुड़ कर खड़ा हो गया और आनेवालों से हकला-हकला कर पिता का पता पूछने लगा। कुछ ने उसे आश्चर्य से देखा, कुछ मुस्करा दिये, पर दो-एक ने दूकानदार से कुछ ऐसी बात कही जिससे वह बालक को, हाथ पकड़ कर बाहर ही नहीं छोड़ आया, इस भूल की पुनरावृत्ति होने पर विमाता से दण्ड दिलाने की धमकी भी दे गया। इस प्रकार उसकी खोज का अन्त हुआ।

बहन का सन्ध्या होते ही कायापलट, फिर उसका आधी रात बीत जाने पर भारी पैरों से लौटना, विशाल शरीर वाली विमाता का जंगली बिल्ली की तरह हल्के पैरों से बिछौने से उछल कर उतर आना, बहन के शिथिल हाथों से बटुए का छिन जाना और उसका भाई के मस्तक पर मुख रखकर स्तब्ध भाव से पड़ रहना आदि क्रम ज्यों-के-त्यों चलते रहे।

पर एक दिन बहन लौटी ही नहीं। सबेरे विमाता को कुछ चिन्तितभाव से उसे खोजते देख बालक सहसा किसी अज्ञात भय से सिहर उठा। बहन--उसकी एकमात्र आधार बहन ! पिता का पता न पा सका और अब बहन भी खो गई ! वह जैसा था वैसा ही बहन को खोजने के लिए गली-गली में मारा-मारा फिरने लगा। रात में वह जिस रूप में परिवर्तित हो जाती थी उसमें दिन को उसे पहचान सकना कठिन था। इसीसे वह जिसे अच्छे कपड़े पहने हुए जाता देखता उसी के पास पहुंचने के लिए सड़क के एक ओर से दूसरी ओर दौड़ पड़ता। कभी किसी से टकरा कर गिरते-गिरते बचता, कभी किसी से गाली खाता, कभी कोई दया से प्रश्न कर बैठता--क्या इतना ज़रा-सा लड़का भी पागल हो गया है ?

इसी प्रकार भटकता हुआ वह गिरहकटों के गिरोह के हाथ लगा और तब उसकी दूसरी शिक्षा आरम्भ हुई। जैसे लोग कुत्ते को दो पैरों से बैठना, गर्दन ऊंची कर खड़ा होना, मुंह पर पंजे रखकर सलाम करना आदि करतब सिखाते हैं उसी प्रकार वे सब उसे तम्बाखू के धुंए और दुर्गन्धित सांस से भरे और फटे चिथड़े, टूटे बरतन और मैले शरीरों से बसे हुए कमरे में बन्द कर कुछ विशेष संकेतों और हंसने-रोने के अभिनय में पारंगत बनाने लगे।

कुत्ते के पिल्ले के समान ही वह घुटनों के बल खड़ा रहता और हंसने-रोने की विविध मुद्राओं का अभ्यास करता। हंसी का स्रोत इस प्रकार सूख चुका था कि अभिनय में भी वह बार-बार भूल करता और मार खाता; पर क्रन्दन उसके भीर इतना अधिक उमड़ा रहता था कि ज़रा मुंह बनाते ही दोनों आंखों से दो गोल-गोल बूंदें नाक के दोनों ओर निकल आतीं और पतली समानान्तर-रेखा बनती और मुंह के दोनों सिरों को छूती हुई ठुड्ढी के नीचे तक चली जातीं। इसे अपनी दुर्लभ शिक्षा का फल समझ कर, रोओं से काले उदर पर पीला सारंग बांधने वाला उसका शिक्षक प्रसन्नता से उछलकर उसे एक लात जमाकर पुरस्कार देता।

वह दल बर्मी, चीनी श्यामी आदि का सम्मिश्रण था, इसीसे 'चोरों की बरात में अपनी-अपनी होशियारी' के सिद्धांत का पालन बड़ी सतर्कता से हुआ करता। जो उसपर कृपा रखते थे उनके विरोधियों का सन्देह-पात्र होकर पिटना भी उसका परम कर्त्तव्य हो जाता था। किसी की कोई वस्तु खोते ही उस पर सन्देह की ऐसी वृष्टि आरम्भ होती कि बिना चुराये ही वह चोर के समान कांपने लगता, और तब उस 'चोर के घर छिछोर' की जो मरम्मत होती थी उसका स्मरण करके चीनी की आंखें आज भी व्यथा और अपमान से धक-धक जलने लगती थीं।

सबके खाने के पात्र में बचा उच्छिष्ट एक तामचीनी के टेढ़े-मेढ़े बरतन में, सिगार से जगह-जगह जले हुए कागज से ढककर रख दिया जाता था, जिसे वह हरी आंखों वाली बिल्ली के साथ मिलकर खाता था।

बहुत रात गए तक उसके नरक के साथी एक-एक कर आते रहते और अंगीठी के पास सिकुड़कर लेटे हुए बालक को ठुकराते हुए निकल जाते। उनके पैरों की आहट को पढ़ने का उसे अच्छा अभ्यास हो चला था। जो हल्के पैरों को जल्दी-जल्दी रखता हुआ आता है उसे बहुत मिल गया है, जो शिथिल पैरों को घसीटता हुआ लौटता है वह खाली हाथ है, जो दीवार को टटोलता हुआ लड़खड़ाते पैरों से बढ़ता है वह शराब में सब खोकर बेसुध आया है, जो देहली से ठोकर खाकर धम-धम पैर रखता हुआ घुसता है उसने किसी से झगड़ा मोल ले लिया है, आदि का ज्ञान उसे अनजान में ही प्राप्त हो गया था।

यदि दीक्षान्त संस्कार के उपरान्त विद्या के उपयोग का श्रीगणेश होते ही उसकी भेंट पिता के परिचित एक चीनी व्यापारी से न हो जाती तो इस साधना से प्राप्त विद्वत्ता का क्या अन्त होता, यह बताना कठिन है। पर संयोग ने उसके जीवन की दिशा को इस प्रकार बदल दिया कि वह कपड़े की दूकान पर व्यापारी की विद्या सीखने लगा।

प्रशंसा के पुल बांधते वर्षों पुराना कपड़ा सबसे पहले उठा लाना, गज से इस तरह नापना कि जौ बराबर भी आगे न बढ़े चाहे अंगुल भर पीछे रह जाय, रुपये से लेकर पाई तक खूब देखभालकर लेना और लौटाते समय पुराने खोटे पैसे विशेष रूप से खनका-खनका कर दे डालना आदि का ज्ञान कम रहस्यमय नहीं था। पर मालिक के साथ भोजन मिलने के कारण बिल्ली के संग उच्छिष्ट सहभोज की आवश्यकता नहीं रही और दूकान में सोने की व्यवस्था होने से अंगीठी के पास ठोकरों से पुरस्कृत होने की विवशता जाती रही। चीनी छोटी अवस्था में ही समझ गया था कि धन-संचय से संबंध रखने वाली सभी विद्याएं एक-सी हैं, पर मनुष्य किसी का प्रयोग प्रतिष्ठापूर्वक कर सकता है और किसी का छिपाकर।

कुछ अधिक समझदार होने पर उसने अपनी अभागी बहन को ढूंढने का बहुत प्रयत्न किया; पर उसका पता न पा सका। ऐसी बालिकाओं का जीवन ख़तरे से खाली नहीं रहता। कभी वह मूल्य देकर खरीदी जाती हैं और कभी बिना मूल्य के गायब कर दी जाती हैं। कभी वह निराश होकर आत्म-हत्या कर लेती हैं और कभी शराबी ही नशे में उन्हें जीवन से मुक्त कर देते हैं। उस रहस्य की सूत्रधारिणी विमाता भी सम्भवतः पुनर्विवाह कर किसी और को सुखी बनाने के लिए कहीं दूर चली गई थी। इस प्रकार उस दिशा में खोज का मार्ग ही बन्द हो गया।

इसी बीच में मालिक के काम से चीनी रंगून आया, फिर दो वर्ष कलकत्ते में रहा और तब अन्य साथियों के साथ उसे इस ओर आने का आदेश मिला। यहां शहर में एक चीनी जूतेवाले के घर ठहरा है और सबेरे आठ से बारह और दो से छः बजे तक फेरी लगाकर कपड़े बेचता रहता है।

चीनी की दो इच्छाएं हैं, ईमानदार बनने की और बहन को ढूंढ़ लेने की, जिनमें से एक की पूर्ति तो स्वयं उसी के हाथ में है और दूसरी के लिए वह प्रतिदिन भगवान बुद्ध से प्रार्थना करता है।

बीच-बीच में वह महीनों के लिए बाहर चला जाता था; पर लौटते ही 'सिस्तर का वास्ते ई लाता है' कहता हुआ कुछ लेकर उपस्थित हो जाता। इस प्रकार उसे देखते-देखते में इतनी अभ्यस्त हो चुकी थी कि जब एक दिन वह 'सिस्तर का वास्ते' कहकर और शब्दों की खोज करने लगा तब मैं उसकी कठिनाई न समझकर हंस पड़ी। धीरे-धीरे पता चला—बुलावा आया है, वह लड़ने के लिए चाइना जायगा। इतनी जल्दी कपड़े कहां बेचे और न बेचने पर मालिक को हानि पहुंचा कर बेईमान कैसे बने! यदि मैं उसे आवश्यक रुपया देकर सब कपड़े ले लूं तो वह मालिक का हिसाब चुकता कर तुरन्त देश की ओर चल दे।

किसी दिन पिता का पता पूछने जाकर वह हकलाया था—आज भी संकोच से हकला रहा था। मैंने सोचने का अवकाश पाने के लिए प्रश्न किया, "तुम्हारे तो कोई है ही नहीं, फिर बुलावा किसने भेजा ?" चीनी की आंखें विस्मय से भरकर पूरी खुल गईं—"हम कब बोला कि हमारा चाइना नहीं है ? हम कब ऐसा बोला, सिस्तर ?" मुझे स्वयं अपने प्रश्न पर लज्जा आई। उसका इतना बड़ा चीन रहते वह अकेला कैसे होगा!

मेरे पास रुपया रहना ही कठिन है, अधिक रुपये की चर्चा ही क्या ? पर कुछ अपने पास खोज-ढूंढ़कर और कुछ दूसरों से उधार लेकर मैंने चीनी के जाने का प्रबन्ध किया। मुझे अन्तिम अभिवादन कर जब वह चंचल पैरों से जाने लगा तब मैंने पुकार कर कहा, "यह गज तो लेते जाओ।" चीनी सहज स्मित के साथ घूमकर 'सिस्तर का वास्ते' ही कह सका। शेष शब्द उसके हकलाने में खो गए।

और आज कई वर्ष हो चुके हैं—चीनी को फिर देखने की सम्भावना नहीं। उसकी बहन से मेरा कोई परिचय नहीं; पर न जाने क्यों, वे दोनों भाई-बहन मेरे स्मृति-पट से हटते ही नहीं।

चीनी की गठरी में से कई थान मैं अपने ग्रामीण बालकों के कुरते बना-बनाकर खर्च कर चुकी हूं; परन्तु अब भी तीन थान मेरी आलमारी

में रखे हैं और लोहे का गज दीवार के कोने में खड़ा है। एक बार जब इन थानों को देखकर एक खादी-भक्त बहन ने आक्षेप किया था कि 'जो लोग बाहर से विशुद्ध खद्दरधारी होते हैं वे भी विदेशी रेशम के थान खरीदकर रखते हैं, इसी से देश की उन्नति नहीं होती' तब में बड़े कष्ट से हंसी रोक सकी थी।

वह जन्म का दुखियारा मातृ-पितृहीन और बहन से बिछुड़ा हुआ चीनी भाई अपने समस्त स्नेह के एकमात्र आधार चीन में पहुंचने का आत्मतोष पा गया है, इसका कोई प्रमाण नहीं; पर मेरा मन यही कहता है।

: २ :

कैदी

सत्यवती मल्लिक

वह एक जीवित मांस की लोथ-सा दिखाई देता था। सफेद रक्त-हीन चेहरे पर कीच-युक्त अधखुली आंखें, मुंह से बहती हुई लार, जो उसकी बढ़ी हुई दाढ़ी पर से एक डोरे की तरह टपक रही थी और जिसपर मक्खियों ने अधिकार जमा लिया था। उसके कांपते हुए सिर ने, जिसे वह हथकड़ियों की रगड़ से दोनों घाव-युक्त कलाइयों के सहारे थामे हुए औंधा हुआ पड़ा था, उसकी आकृति को और भी भयावना बना दिया था।

बेड़ियों की जंजीरों को पकड़े हुए यदि उसके दोनों ओर दो लाल पगड़ी वाले सिपाही न होते तो कोई भी यात्री ऐसे घिनौने-मरणासन्न व्यक्ति को बस में न घुसने देता।

उसी दिन प्रातःकाल उन लोगों ने लाहौर से मोटर-बस द्वारा श्रीनगर के लिए प्रस्थान किया था। करीब दो बजे जम्मू शहर के अन्त में, जहां से जम्मू-काश्मीर-बैली रोड प्रारम्भ होती है, मोटर-बस पेट्रोल लेने के लिए खड़ी हुई। पेट्रोल-पम्प पर खड़ा होना—विशेष-तया गर्मी के दिनों में—यात्रियों के लिए बहुत नागवार-सा होता है।

अगली सीटों पर दो-तीन कालेज के विद्यार्थी थे, बीच की पूरी सीट पर दो स्त्रियां तथा उनके दो बच्चे और पिछली सीटों पर जम्मू शहर से सवार हुए तीन-चार यात्री, जो सब्जी आदि काश्मीर ले जाने का व्यवसाय करते थे, और एक खानसामा था।

विद्यार्थी अख़बार और पुस्तकें उलट-पलट कर देखने लगे। दोनों स्त्रियों में से एक ऊंघ रही थी और दूसरी नीचे सुदूर समतल पर एक-टक देख रही थी, मानों अपने बीते हुए जीवन के वर्ष गिन रही हो।

"क्या वह बीमार है ?"

"जी हाँ, यह बीमारी इसे जेल में ही हो गई थी।"

इसी समय पिछली सीटों पर कुछ भनभनाहट हुई और अगली सीटों के सभी यात्रियों की दृष्टि उस विकृत मनुष्य की ओर आकर्षित हुई। सड़क पर कुत्ते की मरते-समय जो दशा होती है, अभी दस मिनट में ही, सबका जी लगभग उसी तरह के भय, आशंका और ग्लानि से एकबारगी भर गया।

रामनगर-महल को पार करते ही पथरीले पहाड़ आरम्भ हो जाते हैं। नीचे दूर तक रेत और सफेद पत्थरों के विस्तृत मैदान में से मार्ग बनाती हुई तवी नदी बह रही है। उस पार कुछ हरी-हरी खेतियां बहेकड़ की झाड़ियां और कुछ दूरी पर समीप आती हुई विशाल पर्वत-श्रेणियां—ये सब कितने सुहावने प्रतीत होते हैं; किन्तु आज ड्राइवर की कृपा से सब...

यात्रियों का अनुमान था कि उसकी जबान बन्द हो चुकी है, वह मूर्छित है और अन्तिम घड़ियां गिन रहा है; किन्तु जैसे वे भूत-प्रेत के मुख से सुन रहे हों—"पानी ! पानी !"

"तो अभी वह जीता है ?"

"शायद न मरे।"

सब लोगों ने एक साथ ही सिपाहियों की ओर देखा।

"देते हैं पानी, सब्र करो।"

"रास्ता सूखा है, पानी यहां कहां मिलेगा ?"

ड्राइवर अपनी तेज चाल से मोटर लिए जा रहा था। सात-आठ मील के बाद एक दुकान से पानी मिला ; किन्तु उस जीवित लोथ ने स्पर्श करते ही मुंह फेर लिया—"न....न...ठंडा पानी...बर्फ···पानी हुं–हुं..." हांफता हुआ वह पुनः औंधा पड़ रहा।

"वाह रे लाट साहब ! ठंडा पानी—बर्फ...पानी...नवाब तो तू ही है।"

सब लोगों ने पुनः सिपाहियों पर एक नजर डाली।

"पानी...त्रेश...त्रेश..." (काश्मीरी-भाषा में त्रेश प्यास को कहते हैं।)

"अजी, यह तो जेल में झुलस गया है। काश्मीरी है न ?"

"पहाड़ी लोगों को वैसे ही नीचे भेज देना बड़ा भारी दण्ड है और फिर जेल में...या अल्लाह !"—खानसामा ने कहा।

"लो बाशाहो !"

उधमपुर पहुंचकर दूसरे सिपाही ने ठंडे पानी से भरा लोटा कैदी के मुंह से लगाया। हांफते हुए घोड़े की तरह वह एक सांस में ही लोटे का पानी समाप्त कर गया।

अगला पड़ाव कुद सेनेटोरियम है। चील वृक्षों में से सरसराती हवा, संध्याकालीन नीले आकाश में जहां-तहां छितराये बादल, एक-एक मोड़ के बाद ऊंचाई ! तीन घंटे में कितना परिवर्त्तन !

"रोटी ! क्या तेरी मां ने पका रक्खी है ?"—पीछे फिर भन-भनाहट हुई।

लोथ ! नहीं, अब हम उसे कैदी कहेंगे। कैदी के चेहरे का रंग अब पीला हो गया था और क्रमशः उसमें जीवन के चिन्ह जागृत हो रहे थे। हां, तो कैदी ने पुनः धीरे से यन्त्रणा-भरे स्वर में कहा—"भूख ! रोटी !"

यात्री उसके इस आश्चर्यजनक परिवर्त्तन और कुसमय की मांग को सुनकर हंस पड़े। स्त्रियों में से एक के पास कुछ खाने की सामग्री थी। चलती गाड़ी में उसने अपनी टोकरी में से कुछ ताजा कलाकन्द-मूग की तली दाल और दो आम सिपाही के हाथ में दिये।

"लो, जलसे करो दोस्त ! सतवरे ते कुश नहीं मिलया।" (लो, जलसे करो दोस्त ! सात वर्ष से तुम्हें कोई चीज़ नहीं मिली।)—सिपाही ने डोगरी-भाषा में कहा।

"कितने वर्ष की क़ैद थी ?"--पिछली सीट के एक वृद्ध महाशय ने पूछा।

"सात वर्ष की।"

"ओह ! सात वर्ष तो एक लम्बा अरसा होता है ।" एक ठंडी सांस के साथ उसने कहा।

"खाने को क्या मिलता होगा ?"

"दो सूखी रोटियां और दाल दोनों वक्त, और क्या ? जनाब, जेल है, जेल !"

"अब इसे कहां ले जा रहे हैं ?"

इसकी सज़ा ख़त्म हो गई है, केवल बीस दिन बाकी हैं। हरिपर्वत-जेल में इसे छोड़कर हममें से एक आदमी वापस आ जायगा।"

क़ैदी मिठाई समाप्त कर चुका था और आमों का रस उसकी काली घनी दाढ़ी से टपकता हुआ हथकड़ियों तक जा पहुंचा था। अपने समूचे जीवन में ऐसी मिठाइयों और आमों के रस का उसने कभी आस्वादन नहीं किया था।

मोटर-बस इस समय एक ऊंची चोटी पर से गुज़र रही थी। अंधेरा हो चला था। पर्वतीय शीतल वायु, रसपूर्ण पदार्थों की तृप्ति एवं 'घर जा रहा है' सिपाही के इन शब्दों ने उसके विक्षिप्त अंगों में अद्भुत चेतना का संचार कर दिया।

क़ैदी मुस्कराया—"अज भत्ता खाएगा।" (आज चावल खाऊंगा।)

"हां, आज रात को पुलाव खिलायेंगे, मामाजी !" सिपाही ने व्यंग्य से उत्तर दिया।

वृक्षों में से अर्द्धचन्द्र कभी निकलता और कभी छिप जाता। जिस समय मोटर-बस पड़ाव पर खड़ी हुई, यात्री एक चौबारे में चले गए और क़ैदी सिपाहियों के पीछे-पीछे ढुलकता हुआ ऊपर की पहाड़ी पर स्थित पुलिस-चौकी पर ले जाया गया।

× × ×

क्षितिज में अभी काफ़ी तारे बुझते-जागते नज़र आते थे। चन्द्रमा की छाया इस पार अभी फीकी भी नहीं पड़ी थी कि ड्राइवर ने पों-पों करके हार्न बजाना आरम्भ किया। यात्रियों ने बिस्तरे बांधकर पहाड़ी कुलियों द्वारा सामान नीचे भिजवा दिया। केवल 'क़ैदी' के आने की देर थी।

"नामुराद ! कमबख्त !" दो-चार अन्य भी भद्दी गालियां देकर ड्राइवर ने पुकारा।

आज उसका सिर नहीं कांप रहा था। पीला कुरता, जांघिया और टोपी पहने डोर-बेड़ियों की झनझन ध्वनि करता हुआ वह सिपाहियों के साथ वाली सीट पर अधिकारपूर्वक बैठ गया।

धुन्ध, घनी छाया, सामने के पर्वतों में गहरी निस्तब्धता लगातार कई मीलों तक छाई थी। सभी यात्री गर्म वस्त्रों में लिपटे हुए बैठे थे।

आखिरकार इस एकरसता को भंग करते हुए बृद्ध सज्जन ने कहा—"क्यों जी, फिर रात को ख़ूब भात खाया ?"

"सब हड्डियां, सब जूठा भात !" रोषपूर्ण स्वर में क़ैदी ने उत्तर देते हुए स्त्री की ओर देखा—"माईजी, सलाम !"

"ख़ुदा तैनूं ज़िन्दा रखे।"

"बकता है !" सिपाही ने मानों सफाई पेश करते हुए कहा—"सारी रात तो सोने नहीं दिया—कभी रोता था, कभी हंसता था। खबर नहीं, इसे क्या हो गया था ?"

कैसे वह एक पालतू कुत्ते की भांति हवालात के एक कोने में सींकचों से बांध दिया गया था। चन्द्रमा की चांदनी में घंटों वह किस तरह चावल और मांस पकाने की सुगन्धि का मज़ा लेता हुआ अपने मिट्टी के प्याले की ओर देखता रहा और जबतक पड़ाव की पुलिस का हवलदार जम्मू-जेल से आये हुए अपने अतिथियों (सिपाहियों) की ख़ातिरदारी करे और उनके साथ बैठकर मांस-चावल आदि खाता रहा, तबतक वह अधीर हो उचक-उचक कर देखता रहा। रात की सारी घटनाएं क़ैदी के आगे घूम गई। वह पुनः चिल्ला उठा—"हड्डियां माईजी ! सब जूठा भत्ता ! माईजी, अज चाय पिलाएंगा। जे अज

चाय नहीं पिएंगा, ते फिर कद पिएंगा ? ज़िन्दगानी परवरदिगार तैनूं . ."
(माईजी, आज चाय पिला दो ! आज के दिन अगर चाय नहीं मिलेगी तो फिर कब मिलेगी ? परवरदिगार तेरी आयु ...)

और सामने की चोटियों पर प्रभात-वेला में नवीन तिरछी किरणें अलौकिक प्रकाश फैलाने लगीं। चन्द्रभागा दूर से उस विशाल पर्वतमाला के चरणों-तले पतली धारा-सी दिखलाई पड़ी। यात्री इस अपूर्व सौन्दर्य पर मुग्ध हो उठे ।

"वही क़िला है काश्मीर का कालापानी । पहले महाराज के समय में जिसे आजन्म कारावास होता था, उसे यहीं छोड़ देते थे।"

दोनों महान पहाड़ों के बीचोंबीच अकेला एक छोटा-सा पर्वतखण्ड—कुछ भग्नावशेष और घिरा हुआ । लोगों ने एक साथ ही उस भयावने स्थान एवं क़ैदी की ओर देखा। फिर कुछ ढलान आई और चन्द्रभागा उछलती, कूदती, पूरे यौवन में प्रवाहित होती समीप आ गई ।

"आब छु—आब ! आब !" (पानी है—पानी ! पानी !) क़ैदी ख़ुशी के मारे ज़ोर से चिल्लाया—इतना कि सिपाहियों को उसे डांटना पड़ा। क़ैदी गाने लगा—

सैरि डलुक च वुछ बहार, बाग़े निशात त शालमार।
नाव हा थाविय तयार, तार तरान् तरान् वुलो ॥
चोन हवस छू दर चमन, बोसह करिय च्य कोसमन।
शोक चोनुय यंबज़र्वलन्, लोल बरान् बरान् वुलो ॥
बाग़े निशात के गुलो, नाज़ करान करान वुलो।

"आ और डल झील की अनुपम छवि को निहार और निशात एवं शालिमार बागों को सजा ले। झील के विभिन्न घाटों की शोभा देखते-देखते तू इस पार आ। देख, तेरे लिए नौकाएं मैंने कबकी तैयार रखी हैं।

"उपवन तुझे देखने को लालायित है; यास्मन और नर्गिस तुम्हारा स्वागत करने को बेचैन हैं। आ, प्यार की बहार बखेरता चला आ।

"ओ निशात बाग़ के नव वसंत के प्रथम पुष्प, अटखेलियां करता आ—यह फूलों का सुन्दर देश तुम्हारा ही इंतजार कर रहा है।"

चन्द्रभागा सड़क से कुछ ही नीचे अठारह-बीस मील तक साथ-ही-साथ बही है। अनेक छोटे-छोटे नाले, हिमखण्डों से पिघलते हुए उसके प्रपात--झरन, जड़ी-बूटियों में से होते हुए उसके साथ मिल रहे हैं।

और क़ैदी अपनी मस्त तान से काश्मीरी-भाषा में गाता चला जाता है; किन्तु गाने के प्रत्येक अन्तिम चरण में एक करुण भयावनी चीख़ उसके मुंह से निकल जाती है। सिपाही ने फिर डांटकर कहा--"कुत्ते की तरह रोता क्यों है, कम्बख़त ?"

अब श्रीनगर केवल पचास मील शेष रह गया है। हरी-हरी धान की खेतियां, सफेदों से घिरी सड़कें, फलों से झूलते पेड़ और नववसन्त के सौरभ से आलोड़ित समूची उपत्यका मानों उनका आतिथ्य कर रही हो। सड़कों पर काम करने वाले कुली, खेतों पर काम करने वाले किसान, लम्बे कुर्ते और टोपियां पहने काश्मीरी बच्चे मोटर-बस की तेज़ चाल में से भी क़ैदी की आत्मा के साथ एकाकार हो रहे थे। वह बरबस मोटर की खिड़की में से मुंह बाहर निकाल कर चिल्लाया--"काशुर छुखा, हतो।" (अरे, तुम काश्मीरी हो न।)

किसी भी व्यक्ति से काश्मीरी-भाषा में बात करने के लिए उसका हृदय मानों छटपटा रहा था। वह कभी सीट पर से उठता, कभी सिर बाहर निकालकर देखता और कभी बीच की सीटवाली स्त्री और उसके बच्चे की ओर देखकर कहता--"ज़िन्दगानी, परवरदिगार, माईजी ! हा म्यानि दोस्ता।" (मेरे दोस्त !)

स्त्री बार-बार क़ैदी के इस व्यवहार पर झेंप जाती और उसका लड़का क़ैदी को 'अपना दोस्त' कहते झुंझलाने लगता।

"अजी, सात वर्ष इसने चाय नहीं पी। सात वर्ष इसने भात नहीं खाया। सात वर्ष तम्बाकू नहीं पिया और न किसी स्त्री-बच्चे का मुंह ही देखा।

"क्यों हज़ूर ?"--खानसामे ने सिपाहियों की ओर देखकर, मुस्कराकर, कहा।

"अरे, चुपकर। माईजी, माईजी मत कर। रात को भी पूछता था, वह मिठाई देनेवाली माईजी क्या कल भी होंगी ?"

फिर कुछ मील निकल गए।

"ब छुस बोड़ गुनाहार, म्यानि ख़ुदाया ! परवरदिगारा, च़ हाव ये स्यज़ वथ ?" (या ख़ुदा, मैं बड़ा गुनहगार हूं। मुझे सीधे रास्ते पर ले चल।)

सीटों के मध्य में नीचे दोनों हाथों पर सिर रखकर मानों उसके अन्तर से कोई मर्मान्तक व्यथा फूट रही हो। क़ैदी सिसक रहा था। ऐसा जान पड़ता था कि ऐसी क्रिया उसका अंग बन चुकी है। वह पुनः उठा और ज़ोर से हंस पड़ा—"धान्य, धान्य।" (काश्मीरी-भाषा में धान्य शाली को कहते हैं।)

शहर समीप आ गया था। बादामी-बाग के मैदान में भीड़ एकत्र हो रही थी। "महाराज ! महाराज !" वह उछल पड़ा—"मैं सौगन्ध-पूर्वक कह सकता हूं, महाराज खेलने आये हैं।"

खानसामे ने पूछा—"तुम्हारी माई है ?"

क़ैदी का सिर पुनः लटक-सा गया।

"नहीं !"—उसने सिर हिलाकर कहा।

"बच्चे हैं ?"

उसका गला भर आया। एक नज़र उस बीच की सीटवाले लड़के की ओर डालते हुए क़ैदी ने हाथों के संकेत से कहा—"दोनों नहीं। एक लड़का था, एक लड़की और..."वाक्य को समाप्त करन से पूर्व उसने एक दृष्टि इस भांति उस शस्य-श्यामला भूमि, उस कलकल-छलछल करती नदी—जेहलम—उस विस्तृत नीले आकाश में फैले उड़ते सफ़ेद बादलों की ओर घुमाई, जिनकी आशा से वह कल जी उठा था, जैसे आज फिर सब-कुछ सूना हो गया हो। उसने रुंधे गले से ज़ोर लगाकर कहा—"और शादी भी मर गया।"

सब लोग हंसते-हंसते लोट-पोट हो गये। बस से उतरते हुए खानसामे ने कहा—

"वाह आये ख़ुश रहो जवानां, पैंडां सोणा कट छोड़आई।"

(वाह जवान ! खुश रहो, रस्ता अच्छा कट गया है !)

: ३ :

बड़ी बी

डा० अख्तर हुसैन रायपुरी

जिस शहर की मिट्टी मुझमें बसी हुई है, उसका नाम 'र' से शुरू होता है। बरसों मैंने उसकी गलियों की ख़ाक छानी है। उसकी हवा अबतक मेरे क़हक़हों से लदी है। उसकी मिट्टी ने मेरी आंखों के कितने आंसू झटक लिये हैं। अधिक समय नहीं बीता कि मेरे स्मृति-पटल में उसकी एक-एक ईंट की छवि चित्रित थी। हर मैदान और हर डगर की तस्वीर मुझे याद थी। उसके क़ब्रिस्तान के सिवा मैं हर जगह को जानता था। इस बार मैं इस वीराने को भी पहिचान आया और अब मैं कह सकता हूं कि इस नगर के प्रत्येक रजकण में मेरी आत्मा समाई हुई है।

आबादी से अलग हटकर एक उदास और गुंजान झाड़ी है। वहां फूल बहुत कम खिलते हैं और जो खिलते हैं वे बेरंग और गन्धहीन! पेड़ों पर धूमिल शोकावरण बिछा रहता है और जब पंछी चहकते हैं तो गुमान होता है कि वे कराह रहे हैं। झुटपुटे ही से टूटी-फूटी समाधियों पर जुगनू झिलमिलाने लगते हैं। कभी-कभी भूले-भटके कोई किसी क़ब्र पर दिया रख जाता हो तो हो, वरना हर घरौंदे पर एक-आध जुगनू अपनी नीरव भाषा में मृत्यु-गान गाने लगता है और उसकी धुंधली-सी जोत अंधियारे में यों फैल जाती है जैसे मौत और जिन्दगी के दोराहे पर आख़िरी हिचकी रास्ता ढूंढ़ रही हो।

हसरतों और अरमानों की इस विभीषिका में मैं देर तक उस क़ब्र को ढूंढता फिरा, जिसके नीचे मेरी मामा[1] हमेशा के लिये सो रही है और जब मैं उसके पास पहुंचा तो यह भान हुआ कि यहां मेरा बचपन देर से सो रहा है।

अंधेरा फैलता जाता था और सन्नाटा बढ़ता जाता था। क़ब्र कच्ची थी और उसके कोने धंस गये थे। उसकी दरारों से सिर निकाल कर दो-चार जंगली पौधे शोक-स्तम्भों के समान चुप खड़े थे और तारों की ख़ामोशी का सबक़ दे रहे थे। वहीं दीमकों ने घर बना लिया था और क्या अजब कि मेरी बूढ़ी मामा की हड्डियों में उन्हें कुछ खाद्य सामग्री मिल गई हो।

मेरे जीवन-ग्रन्थ के ग़लतनामे में केवल एक शब्द है—'कल'। मगर यहां आकर ऐसा लगा कि 'कल' की सीढ़ी पर चढ़कर मैं 'आज' की दीवार तक पहुंचा और यह सीढ़ी अतीत के अंधे कुंए में गिर पड़ी। अब न इस दीवार का ओर-छोर मिलता है और न नीचे उतरने का रास्ता बाक़ी है।

जीवन एक विस्तृत डायरी के सिवा कुछ नहीं है। इसके कुछ पन्ने लिखे जा चुके, कुछ और लिखे जायंगे। फिर मृत्यु 'इति' लिखकर इस कहानी को इतिहास की रद्दी टोकरी में डाल देगी। तो भी इस खिलवाड़ को देखती आंखों से देखो तो इसमें दुनिया के चेहरे की हर रग साफ़-साफ़ नज़र आती है। अगर मेरी क़लम में ताक़त हो तो मैं इन रंगों को लेकर जीवन की रूप-रेखा में खून भर सकता हूं।

इस डायरी का प्रथम अध्याय मौत से शुरू होकर मौत पर ख़तम होता है।

मुझे याद है कि मैं बहुत छोटा था, शायद अपने पैरों पर खड़ा भी न हो सकता था। शीतकाल और सन्ध्या वेला की बात है। मामी तवे

---

१ मेरी नानी, जिसे हम 'बड़ी बी' कहकर पुकारते थे।

पर रोटी सेंक रही थी और मैं उसके पास बैठा लालटेन की रोशनी में साबुन के पानी से बुलबुले निकालने की कोशिश कर रहा था।

एकाएक सारा घर क्रन्दन की गूंज से कांप उठा और मामी अपने हाथों को सारी से पोंछ कर बाहर भागी। मेरी समझ में बस इतना आया कि लोग किसी बात पर रो रहे हैं और समवेदना कहती है कि इनके साथ रोना चाहिए। चूल्हे के पास बैठकर मैं भी ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा; पर बुलबुलों का खेल इतना मनोरंजक था कि आंखों में आंसू न आये। बाहर इतना अंधेरा था कि अपने आसन से डोलने का साहस न हुआ। रोने-धोने का सिलसिला देर तक जारी रहा, यहां तक कि मेरा कौतूहल बहुत बढ़ गया।

कुछ देर बाद कई औरतें आईं और मुझे गोद में लेकर फूट-फूट कर रोने लगीं। इतना तो मैं भी समझ गया कि अम्मा की बीमारी से इनका कुछ सम्बन्ध है। सम्बन्ध किस प्रकार का है, यह मैं नहीं भांप सका। सच तो यह है कि इतने लोगों को अपने लाड़-चाव में तत्पर पाकर मेरा हृदय अभिमान से फूल उठा।

मुझे उस रात की सब बातें याद हैं। लकड़ी के एक सन्दूक़ में अम्मा का लिटाया जाना, मेरा उनके समीप जाकर कुछ पूछना, फिर मातम का हृदय-विदारक दृश्य ! मैं केवल इतना समझा कि अम्मा इलाज के लिए कहीं गई हैं और अब मेरे लालन-पालन का कुल भार मामा पर है। जहां तक याद पड़ता है, इस परिवर्तन से मुझे विशेष दुःख नहीं हुआ, क्योंकि मामा का सामीप्य मुझे अधिक पसन्द था।

मैं जिस टूटी हुई क़ब्र के पास बैठा हूं, उसमें सोनेवाली बुढ़िया का चित्र मेरे हृदय में सदा खुदा रहेगा। उसके ज्योतिहीन नेत्र शून्य में न जाने किस बिछुड़े हुए को ढूंढ़ा करते थे। उसके दुर्बल हाथों का सहारा लेकर मैंने बचपन का कंटीला रास्ता तय किया है। उसकी लोरियों और कहानियों ने मेरी कल्पना को रंगीनी दी है।

काल के निष्ठुर हाथ आयु की चादर को तह करते गये और फिर वे दिन आये, जब मामा को मर जाना था। बहुत दिनों से मैं प्रवास

ग्रहण कर चुका था और कष्ट ने सहानुभूति से मुझे वंचित कर दिया था। अंतिम बार जब मैंने उसे देखा तो वह चलने-फिरने के योग्य न रही थी। अब वह हाड़-चाम की गठरी रह गई थी, जिसमें जीवन किसी भटकी हुई नाव के समान राह टटोल रहा था। यह अजीब बात थी कि दुनिया को मैं जितने पास से देखता जाता था, उससे उतनी घृणा बढ़ती जाती थी और मेरी मामा मौत की दीवार से टकरा कर ज़िन्दगी की ओर भागने के लिये बेकार हाथ-पैर मार रही थी। जीवन से यह प्रेम मेरे लिये अप्रिय था। इसीलिए मैं उससे समवेदना के दो शब्द भी न कह सका। आज तक मैंने जितने पाप किये हैं, उन में यह सबसे गर्हित था, क्योंकि मैं उसके उपकारों को भूल गया था।

अब जो वह मर चुकी है तो मैं उसकी क़ब्र से यह कहने आया हूं कि तेरे साथ मेरा बचपन भी दफ़न है। दोनों मुर्दा हैं, दोनों बेजान हैं। दोनों नींद से न जागेंगे, दोनों मेरी बातें न सुनेंगे, दोनों मेरे आंसुओं को न देखेंगे। इस बूढ़ी ने आंखें बन्द कीं तो मानों, निस्स्वार्थ प्रेम की आंखें मुझपर बन्द हो गईं। मेरे शरीर का सारा खून, उसकी आंखों के उस एक बूंद आंसू का बदला नहीं चुका सकता, जो अन्तिम बिदा के समय उसकी सफेद पलकों पर अटका हुआ था।

: ४ :

टीपू सुलतान

श्री विष्णु प्रभाकर

टीपू सुलतान से मेरा आशय न तो मैसूर के उस प्रसिद्ध सुलतान से है, जिसने अंग्रेजों के दांत खट्टे किए थे और न किसी रईसजादे के रईस कुत्ते से है; लेकिन फिर भी उसमें इन दोनों का व्यक्तित्व मौजूद था। टीपू सुलतान की तरह मुसलमान होकर भी वह हिन्दुओं का मित्र था तथा एक दिन कुछ धर्मान्ध युवकों ने उसे कुत्ते की तरह गोली मारकर कुएं में डाल दिया था। मैं नहीं जानता, उसका असली नाम कुछ और था या नहीं। था भी. तो मैंने उसे कभी नहीं सुना। सब लोग उसे सदा 'टीपू' कहकर पुकारते थे। बहुत दिनों बाद जब वह कुछ दिन फौज में नौकरी करके लौटा था और उसने लम्बी दाढ़ी रखवा ली थी, तब कुछ लोग उसे टीपूखां कहने लगे थे। वैसे वह कुछ दिन की ही बात थी, शीघ्र ही वह फिर 'खां' रहित केवल 'टीपू' रह गया था। वह मुझसे पहली बार कब मिला, मुझे ठीक याद नहीं; परन्तु उन बातों को आज कम-से-कम २५ वर्ष तो हो ही चुके हैं। मुलाकात से पहले भी मैंने उसे बहुत दिनों तक प्रायः रोज ही देखा होगा; क्योंकि घर से दूकान जाने के लिए उसे मेरे घर के आगे से गुजरना होता था। यद्यपि उस शहर में हिन्दू-मुसलमानों की बस्तियां प्रायः अलग-अलग थीं, फिर भी मरुस्थल की शाद्वल भूमि की तरह कुछ हिन्दू मुस्लिम बस्ती में और कुछ मुसलमान हिन्दू बस्ती में

रहते थे। टीपू का घर ठेठ हिन्दुओं के मोहल्ले में था। मेरे मोहल्ले में भी, जो टीपू के मोहल्ले के बिल्कुल बराबर था, कई मुसलमान कुटुम्ब बसते थे। यद्यपि उनमें कुछ लोग काफी कट्टर थे, फिर भी उनके लड़के हमारे साथ चौक में तरह-तरह के खेल खेला करते थे। इस चौकड़ी में कहार, बनिये, ब्राह्मण, जैनी, आर्यसमाजी और मुसलमान सभी के लड़के होते थे। टीपू उस दल का सक्रिय सदस्य था। वह यद्यपि दूसरी गली में रहता था तो भी खेलने के वक्त पर अक्सर हमारे घर के बाहर पड़ी कुर्सियों पर आ बैठता था। मुझे याद है, बहुत दिन तक उसे शर्म चढ़ी रही थी। वह एक गरीब बढ़ई का लड़का था और शायद अपने बड़े भाई के पास रहता था। कुछ भी हो, खेलमें उसे दिल-चस्पी थी--विशेषकर चांदनी रातों में कबड्डी खेलने में उसे विशेष रस आता था। उस खेल में उसकी छटा देखते ही बनती थी। वह तनिक टांगों को चौड़ा करके दौड़ा करता था और अपने कन्धे पर एक गन्दा-सा अंगोछा डाले रखता था। उसे चिढ़ाने में हमें बड़ा मज़ा आता था। दूसरे के दल में घुसते समय 'कबड्डी तीन तारा, सुलतान वेग मारा' के स्थान पर हम 'कबड्डी तीन तारा, सुलतान टीपू मारा' पुकारते थे। याद नहीं पड़ता, वह कभी सचमुच नाराज हुआ था। वैसे झूठ-मूठ नाराज हो जाना और फिर पेट पकड़कर हंस देना उनका स्वभाव था।

उसका शरीर कुछ चौड़ा और कद मझोला था। टांगें कुछ पतली थीं और चलते समय तिरछे कोण बनाया करती थीं। उसकी आंखें बड़ी और माथा ऊंचा था। उसके मुख पर सदा एक विचित्र प्रकार की अल्हड़ता खेलती रहती थी और हंसी के कारण अक्सर उसे सीधा खड़ा रहना दूभर हो जाता था। उसे आगे-पीछे देखकर साथियों का अट्टहास और भी गहरा हो उठता था। वह कुरता और तहमद पहनता था तथा उसके सिर पर एक सस्ती मैली झरोखेदार तुर्की टोपी रहती थी। उसके पैर में शायद ही मैंने साबुत जूते देखे होंगे, अक्सर वह फटफटिया ही पहनता था। आजकल की चप्पलों का उन्हें पूर्व रूप कह सकते हैं। पुराने जूतों की एड़ी काटकर वे तैयार की जाती थीं।

पर ये सब बचपन की बातें हैं। जैसे-जैसे उसकी आयु बढ़ी उसका सन्तुलन ठीक होता गया। वह एक अच्छा बढ़ई था और अपने भाई की दूकान में बड़ी मुस्तैदी से काम किया करता था। तब कबड्डी का खेल खत्म हो चुका था और हमारा मिलना पहले-जैसा नहीं रहा था। हमने मकान बदल दिया था और साथ ही सन् १९२५–२६ का बचपन १९३३–३४ की जहरीली जवानी में पलट चुका था। १९३७ तक तो साम्प्रदायिकता का वह जहर हिन्दू-मुसलमानों की नस-नस में रम गया था। यह सब हुआ, परन्तु टीपू की हंसी में कोई अन्तर नहीं पड़ा। यद्यपि वह कभी गम्भीर और कभी तेज होने का प्रयत्न करने लगा था तो भी वह हंसी उसे सदा धोखा दे जाती थी। वह मेरे मुंह की ओर देखता-देखता दोहरा होकर खिलखिला पड़ता था।

मुझे याद है, द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भिक दिनों में वह अचानक कहीं चला गया था। बहुत दिनों के बाद मैंने उसे दाढ़ी-सहित देखा, तो कुछ अजीब-अजीब-सा लगा। मैं मान लूं, मुझे हाजी-सरीखा उसका वह रूप अच्छा नहीं लगा था, फिर भी उसे देखकर खुशी होना स्वाभाविक थी। मैंने हंसकर कहा—"क्यों भाई टीपू, कहां गायब हो गये थे ?"

उसने सदा की तरह हाथ उठाकर सलाम किया और हंसता हुआ बोला—"ऐसे ही चला गया था।"

"ऐसे ही कहां ?"

"नौकरी करने।"

"कहां ?"

"फौज में।"

"ओहो, तो टीपू सुलतान फौज में भरती हो गए थे ! क्या हिन्दुस्तान के फतह करने का इरादा था ?"

वह तेजी से हंसने लगा। बोला—"अजी, मुझे क्या फतह करना था, मैं तो लकड़ी छीलता हूं।"

"लेकिन चले क्यों आये ?"

"ऐसे ही, जी नहीं लगा, आगे भेजते थे।"

"तो यूं कहो, डर गये थे। वाहजी टीपू सुलतान, तुमने तो अपने नामरासी की बिल्कुल लाज नहीं रखी!"

इस बार वह नहीं हंसा। बस, दोनों हाथों की उंगलियों को चटकाते हुए बोला—"अब बाबू...कुछ काम दिलवाइये, गुज़ारा नहीं होता।"

कहने में कुछ ऐसी बात थी, जिससे मुझे चोट लगी। जीवन की ये चिन्ताएं उल्लास को कैसे समाप्त कर देती हैं? मैंने भी हंसी छोड़कर गम्भीर होने की चेष्टा की। फिर भी मुझे याद नहीं पड़ता, उसने मेरे दफ्तर में बहुत काम किया हो। वह एक गरीब आदमी था और ठेके में पैसे की जरूरत होती है। फिर दूकान का मालिक उसका बड़ा भाई था। मेरा ऐसा अनुभव है कि उसका सलूक टीपू से बहुत अच्छा नहीं रहा होगा। मुझे एक घटना की याद आती है। मैंने उसकी दूकान पर अपनी दो कुर्सियां ठीक करने के लिए भेजी थीं। उसके भाई ने लापरवाही से एक कुर्सी की गद्दी खो दी थी। खो देना अपने आप में कोई बड़ा अपराध नहीं था; पर उसके बाद जिस ढंग का व्यवहार किया, उससे बड़ा खेद हुआ। टीपू उन दिनों बाहर गया हुआ था। उसके लौटने पर जब मैंने उसे बताया तो उसे भी दुःख हुआ। पर वह कर क्या सकता था। मैं कुछ करवाना भी नहीं चाहता था।

लेकिन देखता क्या हूं कि उसके कुछ दिन बाद टीपू सुलतान मेरे नये घर में पलंग के पास रखने वाली एक छोटी मेज लिए चले आ रहे हैं। वैसे ऐसी मेज बनाने के लिए मैंने पहले कभी उससे कहा था, पर उस समय ऐसी कोई बात नहीं थी। फिर भी मैं मेज़ देखकर प्रसन्न हुआ और उसे धन्यवाद देकर कहा—"अच्छा, तो कितने पैसे दूं?"

वह हंसा—"तुमसे पैसे लूंगा?"

"क्यों?"

"अच्छा, रहने दो।"

"पर सुनो तो।"

"अजी बाबू...रहने दो।"

और वह चलने को उठा। मैंने विद्रूपसे हंसकर कहा—"तो यों कहो मुझे रिश्वत देने आये थे।"

उसने जवाब में इतना ही कहा--"नहीं-नहीं, तुम्हें रिश्वत दूंगा ?"

बात कुछ इस स्वर में कही गई थी कि मैं आगे कुछ न बोल सका और वह बिना पैसे लिए चला गया । मुझे ठीक याद नहीं पड़ता, मैंने उसे कुछ खिलाया था या नहीं; पर उसकी निर्दोष और सरल हंसी मुझे आज भी ठीक-ठीक याद है। मैं चाहे उसका चित्र न खींच सकूं, पर हृदय में उसकी ध्वनि बराबर अनुभव करता हूं।

उसके बाद जो समय ने करवट ली तो परिस्थिति और भी बदल गई। वह फिर कहीं चला गया। मैं भी बीमार रहा और छुट्टियों-पर-छुट्टियां लेता रहा। आखिर एक दिन मैंने नौकरी छोड़ दी और साथ ही वह शहर भी। बीस साल का वह जीवन, बचपन के खेल, दफ्तर की चख-चख, सार्वजनिक जीवन की व्यस्तता, मित्रों का स्नेह—सब एक याद बनकर रह गए—वह याद, जो अब रह-रहकर बिजली की तरह छाती में तड़प उठती है और मैं चौंक उठता हूं। धीरे-धीरे तीन साल बीत गये। इन तीन सालों में जो कुछ हुआ, उसकी याद युग-युग तक संसार को चौंकाती रहेगी। आने वाले युग का मानव सदा इस दुविधा में फंसा रहेगा कि ईसा की बीसवीं सदी में भारत में आदमी रहते थे या भेड़िये ? उन दिनों हत्या और रक्तपात साधारण बातें थीं। शिशु और नारी की कोई मर्यादा नहीं रह गई थी। उस नगर में भी आग लग चुकी थी। कुछ दिन तक तो हमें वहां की कोई खबर नहीं मिली और जब मिली तो टीपू का उसमें कोई जिक्र नहीं था। मैं स्वीकार कर लूं, मुझे स्वयं उसकी याद धुंधली पड़ गई थी। मैं अपने नातेदारों के लिए चिन्तित था और यह जानता था कि वहां के सब मुसलमान पाकिस्तान चले गए हैं। लेकिन बहुत शीघ्र

ही मुझे उन मुसलमानों की याद आने लगी, जिनकी कड़वी, मीठी स्मृतियां मेरे हृदय में मौजद थी। कुछ शान्ति हो जाने पर एक दिन एक मित्र बोल उठे—"टीपू को तुम नहीं भूले होगे।"

"नहीं, नहीं, उसे कैसे भूल सकता हूं? उसका क्या हुआ? वह कहां गया?"

"उसे मारकर लोगों ने मेरे घर के बाहर कुएं में डाल दिया।"

"क्या?"—मेरा हृदय तूफ़ान की गति से धक-धक कर उठा।

"हां।"

"पर कैसे? वह तो ऐसा नहीं था। उसने क्या किया था?"

मित्र ने जो कुछ बताया, उसका आशय स्पष्ट था। उसने अपना काम उसी तरह जारी रक्खा था। वह अब भी हिन्दुओं के मोहल्ले में रहता था और निःसंकोच हिन्दुओं के घर काम करने जाता था। उन रक्तरंजित दिनों में भी उसने अपना क्रम नहीं छोड़ा। उन्हीं दिनों एक दिन वह एक हिन्दू सेठ के घर से काम करके लौट रहा था। रास्ता एक बड़े बाजार से होकर जाता था। लोगों ने उसे देखा और रोका—"अरे, तू इधर कहां जा रहा है?"

"दुकान पर।"

"इधर से मत जा, भाई।"

"क्यों, इधर क्या है?"

"जैसे तू जानता नहीं। आजकल कोई किसी की नहीं सुनता।"

वह हंस पड़ा। वही अल्हड़ हंसी। बोला—"मुझे कोई क्या कहेगा?"

और वह आगे बढ़ गया। इस विश्वासी को वे लोग न रोक सके। कुछ दूर बढ़ा होगा कि एक शुभचिन्तक ने फिर टोका—"टीपू, इधर से न जा, भाई।"

टीपू ने अचरज से उन्हें देखा और लापरवाही से जवाब दिया—"मुझे कोई कुछ नहीं कहेगा।" वह और आगे बढ़ा। कुछ धर्मान्ध नवयुवक उसी मार्ग से जा रहे थे। उन्होंने आंखों-ही-आंखों में मंत्रणा की

और पीछे हो लिए। वह चौराहे के पास पहुंच गया था। बस, दो कदम और...वह बांई ओर मुड़ जायगा। वहीं कुछ आगे उसकी दुकान है। वह शायद सोच रहा था—"देखा, मुझे कोई क्या कह सकता है?"

और ठीक इसी समय एक जोर का ठहाका हुआ। एक ओर से पिस्तौल की गोली आई और टीपू के सिर को फोड़ती हुई निकल गई। वह वहीं चौराहे पर गिर पड़ा। वह शायद तड़पा होगा, उसने शायद हाथ-पांव पटके हों!...

मुझे पसीना आने लगा। मेरी आंखें कड़ुवे धुएं से भर गईं। ओह, वह मुख, जो सदा एक अल्हड़ हंसी से चमकता रहता था, उस क्षण कैसा लगता होगा, कैसा...! मुझे विश्वास है, वह तब भी हंसा होगा—वही अल्हड़ और शर्मीली हंसी!

मित्र कह रहे थे—"धर्मान्धों ने उसे मार तो डाला; पर जैसे इस दुष्कृत्य से वे कांप उठे। उन्होंने अपने पाप को छिपाने के लिए उसे मेरे घर के बाहर कुएं में डाल दिया। मैं तब घर में था। एक जोर का धमाका हुआ और मैंने समझा, कुछ गिरा है। पर वह आदमी की लाश होगी, इसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। वह रात-भर वहीं पड़ी रही और उसका भाई बेचैनी से पुकारता रहा—"टीपू नहीं आया, टीपू नहीं आया!"

× × ×

पूरे पांच वर्ष बाद फिर मैं उस नगर में गया। उसका रूप बिल्कुल पलट चुका था। पुराने चेहरे गायब हो चुके थे और नई-नई मूर्तियां दिखाई दे रही थीं। मुसलमान नाम के जीव का वहां अस्तित्व भी नहीं था। टीपू अगर जीता रहता तो भी मैं उसे न देख पाता; लेकिन जब मैं उस चौक में गया, जहां हम चांदनी रातों में कबड्डी खेला करते थे, उस दुकान के पास से गुजरा, जहां बैठकर टीपू काम किया करता था, उस स्थान को देखा जहां उसके गोली मारी गई थी और उस कुएं पर पहुंचा, जिसमें उसकी लाश डाली गई थी तो मैं

बराबर उसकी वह अल्हड़ हंसी सुनता रहा और कांपता रहा । एक तो मुझे ऐसा लगा, जैसे वह मेरे कान में कह रहा हो—"मुझे कोई क्या कहेगा ?"

तब मेरी आंखें भर आईं और मैं फुसफुसा उठा—टीपू, मैसूर का वह टीपू सुलतान तुम्हारे सामने कुछ नहीं है। तुमने अपने प्राण देकर विश्वास की रक्षा की है। इसी विश्वास के बल पर एक दिन मानवता फिर जी उठेगी, निस्संदेह जी उठेगी। उस दिन तुम्हारे-जैसे हिन्दू-मुसलमानों को—नहीं-नहीं मानवों को—सारा संसार सिर झुकावेगा।

अमर क्षण

१. एक-दो-तीन
मेरी बायल ओ' रीली
२. सातवाँ व्यक्ति
३. वह दिव्य आलिंगन !
बनारसीदास चतुर्वेदी
४. वे कैसे जीते हैं ?
श्रीराम शर्मा
५. दो धनी
६. उत्सर्ग
७. भद्रजनों की श्रेणी
८. संयोग
सत्यवती मल्लिक
९. नूरी
सत्यवती मल्लिक
१० मां-बेटा
सुशीला नय्यर
११. स्वातंत्र्य-परिचय
'बनचर'
१२. बेचारा पीटर !
१३. सुकरात का विषपान
सत्यवती मल्लिक

: १ :

एक-दो-तीन

श्रीमती मेरी बायल ओ' रीली

यूरोपियन महायुद्ध की बात है। बर्लिन स्टेशन से मुसाफिरों से भरी रेलगाड़ी रेंगती हुई रवाना हुई। गाड़ी में औरतें, बच्चे, बूढ़े—सभी थे; पर कोई पूरा तन्दुरुस्त नज़र न आता था। एक डब्बे में, भूरे बालों वाला एक फौजी सिपाही एक अधेड़ स्त्री के पास बैठा था। स्त्री कमज़ोर और बीमार-सी नजर आती थी। तेज़ चलती हुई गाड़ी के पहियों की किच-किच आवाज में मुसाफिरों ने सुना कि वह स्त्री रह-रह कर गिनती-सी गिन रही है—"एक-दो-तीन !"

शायद वह किसी गहरे विचार में मग्न थी। बीच-बीच में वह चुप हो जाती और फिर वही—"एक-दो-तीन !"

सामने दो युवतियां बैठी थीं। उनसे रहा न गया और वे खिल-खिलाकर हंस पड़ीं। साथ ही इस वृद्धा के अजीब बर्ताव का वे आपस में मज़ाक उड़ाने लगीं। इतने में एक बुजुर्ग आदमी ने उन्हें झिड़क दिया। कुछ देर के लिए सन्नाटा छा गया।

"एक-दो-तीन"—वृद्धा ने कुछ बेसुध-सी हालत में कहा। युवतियां फिर भद्दे ढंग से हंस पड़ीं।

भूरे बालोंवाला सिपाही कुछ आगे की ओर झुका और बोला—"श्रीमतीजी, यह सुनकर आपका खिलखिलाना शायद बन्द हो जायगा कि जिसपर आप हंस रही हैं, वह मेरी स्त्री है। अभी हाल ही में हमारे

तीन जवान बेटे लड़ाई में मारे गये हैं। मैं खुद भी लड़ाई पर जा रहा हूं; लेकिन जाने के पहले उन बेटों की मां को पागलखाने पहुंचा देना ज़रूरी है।"

सहसा डब्बे में एक भयंकर सन्नाटा छा गया, जैसे सबकी छाती पर सांप लोट गया हो!

अनु०—स्व० ब्रजमोहन वर्मा

: २ :

सातवां व्यक्ति

यूरोपियन महायुद्ध के समय । इंगलैंड के एक प्राइवेट अस्पताल में ३६ घायल व्यक्ति पड़े थे । वे युद्ध में इतने घायल हुए थे कि उनके अच्छे होने की उम्मीद नहीं थी, फिर भी वे अस्पताल में पड़े हुए, बहुत धैर्य और साहस के साथ क़दम-कदम पर यमराज से लोहा लेकर, मौत की घड़ियां गिन रहे थे । अस्पताल के अधिकारियों ने (प्रिंस आव वेल्स भूतपूर्व सम्राट् एडवर्ड अष्टम) से प्रार्थना की कि वे किसी दिन आकर इन घायलों को देखने की कृपा करें । प्रिंस एक दिन नियत करके अस्पताल देखने पहुंचे ।

आमतौर पर जैसा होता है, अधिकारियों ने उन्हें तमाम घायलों की चारपाइयों के आसपास घुमाया-फिराया और फिर कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन्हें विदा करने के लिए दरवाजे की ओर ले चले; लेकिन प्रिंस सहसा रुक गये । उन्होंने मुंह फेर कर कहा, "मुझे तो बतलाया गया था कि आपके यहां ३६ घायल हैं; लेकिन मैंने तो कुल २९ ही देखे ।"

अधिकारियों ने बतलाया कि बाकी सात आदमी बहुत बुरी तरह क्षत-विक्षत हो गये हैं, इसलिए हुज़ूर का उनके पास जाना मुनासिब न होगा ।

"मेरा ख़याल करके आप मुनासिब नहीं समझते या उनका ख़याल करके ?"

"हुज़ूर का ही खयाल करके ।"

"तब तो मैं इन सातों आदमियों को जरूर देखूंगा।"

अस्पताल वाले प्रिंस को एक और वार्ड में ले गये, जहां वे लेटे हुए थे। प्रिंस हर चारपाई के पास जा-जाकर खड़े हुए, घायलों से बातें कीं और उनका उत्साह बढ़ाया। वापस लौटते वक्त दरवाज़े पर पहुंचकर वे फिर रुक गये।

"लेकिन यह तो छः ही हैं। सातवां कहां है?" उन्होंने आग्रह के साथ पूछा।

"सातवां आदमी इतनी भयानक रीति से घायल हुआ है कि कोई उसे देख नहीं सकता। आंख से अन्धा हो गया है, कान से बहरा। अंग-अंग इतने क्षत-विक्षत हो गये हैं कि अब आदमी की कुछ भी समानता उसमें बाकी नहीं है। वह एक अलग कमरे में अकेला पड़ा है, जहां से वह इस जिन्दगी में तो उठकर बाहर निकल नहीं सकता।"

"तब तो मुझे उसे जरूर देखना चाहिए।" प्रिंस ने कहा।

"नहीं हुज़ूर, बेहतर है कि आप उसे न देखें। आपको वह नहीं देख सकता है, न सुन सकता है। आप उसका कोई उपकार नहीं कर सकते और उसका दृश्य ही बहुत भयंकर है।"

"कुछ भी हो, मैं उसे देखूंगा।"

अस्पताल का एक कर्मचारी उन्हें एक अंधेरे कमरे में ले गया, जिसमें मौत की-सी मनहूसियत छाई हुई थी। प्रिंस दृढ़ता-पूर्वक चारपाई की तरफ बढ़े, उनका चेहरा सफ़ेद पड़ गया। चारपाई के समीप सिर झुकाये हुए वे उस व्यक्ति को देख रहे थे, जो न उनको देख सकता था, न सुन सकता था। भरी जवानी के उस भग्न खंडहर को वे देख रहे थे, जो युद्ध की चरम विभीषिका का साकार रूप था।

प्रिंस एकाएक झुके और उन्होंने उस लोथड़े का, जो कभी आदमी था, आहिस्ता से मुख चूम लिया! उस वक्त ऐसा जान पड़ा, मानों कमरा किसी दैवी करुण पवित्रता की आभा से दीप्त हो गया हो।

[इन्हीं प्रिंस आव वेल्स को इंगलैंड के दक़ियानूसियों ने गद्दी से उतार कर देश-निकाला दे दिया था।]

: ३ :

वह दिव्य आलिंगन !

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

पत्र नं० १

५-७-१९१९

प्रियवर...,

अरे भई, मेरी बात भी मान लो। तुम पीटर में बहुत दिन रह चुके। मेरा तो यही ख़याल है। किसी एक ही जगह पर बहुत दिन रहना ठीक नहीं। इससे आदमी थक जाता है और उसकी तबीयत ऊब जाती है। अगर राज़ी हो तो इधर की यात्रा का प्रबन्ध करूं। बोलो ! सारा इन्तज़ाम हम लोगों के सुपुर्द रहा।

तुम्हारा,

....

पत्र नं० २

१८-७-१९१९

प्रियवर...,

इधर विश्राम के लिए चले आओ। मैं अक्सर दो-दो दिन के लिए ग्रामों की ओर निकल जाता हूं और वहां तुम्हारे रहने का प्रबन्ध कर सकता हूं। चाहे थोड़े दिन रहना, चाहे बहुत दिन। अरे भई, मेरी बात मान के चले आओ।

तार दो, कब आ रहे हो ? तुम्हारे सफ़र के लिए हम एक कम्पार्टमेन्ट रिज़र्व करा देंगे, जिससे तुम आराम से आ सको। थोड़े दिन के लिए आब-हवा बदलने से तुम्हारी तबीयत ठीक हो जायगी।

जवाब का इन्तज़ार कर रहा हूं।

तुम्हारा,

....

पत्र नं० ३

९-८-१९२१

प्रियवर...,

मैं तो इतना थक गया हूं कि अपनी जान बचाने के लिए भी कुछ नहीं कर पाता। लेकिन तुम ? तुम्हारे थूक के साथ खून आने लगा है और फिर भी बाहर जाने का नाम नहीं लेते ! भई, मेरी बात मानो, तुम्हारी यह ज़िद बिल्कुल बेजा और फ़िज़ूल है। यूरोप के किसी अच्छे सेनीटोरियम (आरोग्यशाला) में तुम्हारा इलाज ठीक तौर पर हो सकेगा और वहां तुम यहां से तिगुना काम कर सकोगे। मेरी भी सुन लो। यहां, हमारे नज़दीक रहते हुए, न तो तुम्हारा कुछ इलाज हो सकता है और न तुम कुछ साहित्यिक काम ही कर पाते हो। यहां तो ऊल-जलूल कोलाहल तथा व्यर्थाभिमान--निरर्थक अहंकार--का बोलबाला है। यहां से बाहर चले जाओ और तन्दुरुस्ती हासिल करो। ज़िद मत करो भाई ! मेरी विनती भी सुन लो।

तुम्हारा,

....

× × ×

ये अमर पत्र २०-२१ वर्ष पहले के हैं और संसार के एक महान राजनैतिक नेता ने एक विश्वविख्यात लेखक को भेजे थे। उनके नाम थे लेनिन और गोर्की !

दरअसल लेनिन गोर्की को देश की एक अमूल्य विभूति मानते थे और उनके स्वास्थ्य के विषय में अत्यन्त चिन्तित रहते थे। घोर-से-घोर

कार्य-व्यस्त रहने पर भी वे इस तरह की पचासों चिट्ठियों के लिखने के लिए वक्त निकाल लेते थे। तीसरी चिट्ठी तो तब लिखी गई थी, जब लेनिन बिल्कुल थके हुए तथा बीमार थे और स्वास्थ्यप्रद भोजन भी उन्हें नसीब नहीं होता था !

लेनिन की पचासवीं वर्षगांठ थी। उनके मित्रों ने एक षड्यंत्र किया। प्राइवेट तौर पर एक मीटिंग का प्रबन्ध किया और लेनिन को इस बात की खबर भी न दी कि उनकी रजत-जयन्ती का उत्सव मित्र-मंडली में मनाया जा रहा है। किसी तरह भरमाकर वे लोग लेनिन को उस स्थान पर लाये जहां यह मंडली इकट्ठी हुई थी। जब लेनिन को इस षड्यंत्र का पता लगा तो वे बहुत नाराज़ हुए और अपने दोस्तों को डांट बताते हुए बोले—

"जनाब, आपने समझ क्या रखा है ? यह भी कोई दिल्लगी है ! आप लोगों के नाम की रिपोर्ट केन्द्रीय कमेटी के पास की जायगी, क्योंकि आप भले आदमियों के क़ीमती वक्त को बर्बादी इस तरह की बेहूदा कार्रवाइयों में किया करते हैं !"

इसके बाद गोर्की खड़े हुए और उन्होंने संक्षेप में लेनिन के व्यक्तित्व का ऐसा शब्द-चित्र खींचा कि श्रोताओं के हृदय तथा नेत्र भर आए। इतने में देखते क्या हैं कि दोनों महापुरुष एक दूसरे का गाढ़ालिंगन कर रहे हैं ! लेनिन ने गोर्की को छाती से लगा लिया था। कई मिनट तक यह दृश्य रहा।

सुना है कि प्राचीन युग में स्वर्ग के देवता मर्त्यलोक के इसी प्रकार के दृश्य देखकर आकाश से फूल बरसाया करते थे ! पर स्वर्ग-देवता और आकाश-पुष्पों की कहानी तो बहुत पुरानी हुई, इस नवयुग में और युग-युगान्तर तक सहृदयों की श्रद्धांजलि का पात्र रहेगा राजनीति तथा साहित्य का वह अनुपम संगम—लेनिन और गोर्की का वह दिव्य आलिंगन !

: ४ :

वे कैसे जीते हैं ?

पं० श्रीराम शर्मा

युक्तप्रान्त के एक प्रसिद्ध नगर में, एक दिन बयासी वर्ष के एक वृद्ध अपने डेढ़ वर्ष के पोते को लेकर द्वार पर बैठे थे। बच्चा हंस-हंस कर दादा की नाक और मूछें पकड़ने की कोशिश करता। प्रेम-विह्वल बूढ़े दादा अपने सिर को हिला-हिलाकर बच्चे की ओर ले जाते। जन्म और मरण की सीमाएं मिली हुई हैं और बुढ़ापे और बालपन की सीमाएं भी मिलती हैं। दुधपिया नाती और बूढ़े दादा का मिलन बाल रवि और डूबते सूरज के समन्वय का दृश्य पैदा कर रहा था।

दादा बच्चे को खिलाने में तन्मय थे कि एक आगन्तुक ने पूछा—"कक्का, बेटे की अपेक्षा दादा को नाती से अधिक प्रेम क्यों होता है ?"

बूढ़े ने कहा—"यह तो सीधी-सी बात है। बनिए को असल की अपेक्षा ब्याज से अधिक मोह होता है। असल तो सुरक्षित है ही, ब्याज की वृद्धि से बनिया सुखी हो..."

वाक्य खत्म भी न हो पाया था कि टन-टन-टन की आवाज करती साइकिल दरवाजे पर आ खड़ी हुई। "कक्का, अपना तार लो," —कहते हुए हरकारे ने तार का लिफाफा बूढ़े दादा को दिया। बूढ़े दादा 'असल तो सुरक्षित है ही' की भावना में पगे तार को लेकर उठे। नाती उनके गले से चिपटा था, जैसे छौआ अपनी मां से चिपट जाता है।

बूढ़े दादा ने पड़ोस में एक महाशय से तार पढ़वाया। तार को पढ़कर पड़ोसी घबरा गया; पर उसने बनावटी विस्मय से कहा—"कक्का, तार तो पढ़ा नहीं जाता। न जाने क्या लिखा है ?"

नाती को पुचकारते और दबदोरते हुए वृद्ध महाशय दो और पड़ोसियों के पास पहुंचे; पर उन्होंने भी बूढ़े को तार का मज़मून बताने में टाल-मटोल की।

झल्लाते हुए वृद्ध महाशय डाकखाने की ओर चले। बगल में पोता था और हाथ में तार का लिफाफा। बयासी वर्षों के भार से लदे बूढ़े महाशय हिलते-डुलते डाकखाने पहुंचे और तार बाबू की ओर तार बढ़ाते हुए उन्होंने कहा—"अरे भैया, कैसो तार तुमने लिखौ ऐ। काउ पै पढ़ौई ना जातु।"

तारबाबू ने विषाद से कहा—"कक्का, पढ़ा तो जाता है; पर किसका पत्थर का दिल है, जो आपसे कहे कि आपका छोटा लड़का गुज़र गया !"

अनभ्र वज्रपात हुआ। बूढ़े महाशय के जर्जरित हृदय में गोली-सी लगी। आंखों के सामने अंधेरा छा गया और लड़खड़ाकर वे गिर गये। बयासी वर्ष का पिंड नाती को संभालता हुआ धरती पर छटपटाने लगा। सुरक्षित मूल (असल) अकस्मात् खो गया ! बस, ब्याज का लोंदा बूड़े के करीब गिरकर रोने लगा।

थोड़ी देर में बूढ़े को चेत हुआ। रोम-रोम उनका कंप रहा था। शरीर के अवयवों ने जवाब-सा दे दिया था। दिल के दोनों द्वारों—आंखों—से गरम सोते चलने लगे। नाती को टटोलकर उन्होंने छाती से लगाया।

कई आदमियों ने संभालकर उसे उठाया। सारा शरीर थरथरा रहा था; पर सहमे-सुकड़े नाती को बूढ़े ने छाती से लगा रखा था। दो फलाँग की दूरी बैठ-बैठकर काटी। वृद्ध महाशय दस कदम चलते कि पैर जवाब दे जाते और उन्हें बैठना पड़ता। बैठते ही उन्हें महात्मा तुलसीदास की ये प्रसिद्ध चौपाइयां याद आ जातीं :

सुत बिन नारि भवन सुख कैसें। उपजत घटा जात नभ जैसें।
काल कर्म बस होइ गुसाईं। बरबस रात दिवस की नाईं।
सुख हर्षे जड़ दुख बिलखाईं। दोउ सम धीर धरें मन माहीं।

गिरते-पड़ते, नाती के वात्सल्य की डोरी में बंधे और पुत्र-वियोग की अग्नि में धधकते वे वृद्ध घर आये।

बूढ़े बाबा अब भी जीवित हैं; पर उनकी कमर-सी टूट गई है। कई पोतों और बड़े पुत्र के सहारे ने उनके घाव पर पपरी-सी डाल दी है। शायद तुलसीदास की उपर्युक्त चौपाइयों ने बूढ़े के घुने शरीर को खड़ा कर रखा है। क्या वे उन्हीं के सहारे जीवित हैं? सम्भवतः हों। अब न सही, उस समय तो उन अमर चौपाइयों ने उन्हें सहारा दिया था।

: २ :

सन् १९२४—

उत्तर प्रदेश के एक छोटे गांव में एक व्यक्ति देहरादून से लीचियां लेकर आता है। सुबह का सुहावना समय है। लीचियों को देखकर उस व्यक्ति का समवयस्क चचेरा भाई आग्रह करता है कि आमों के साथ लीचियां खाई जायं। आम खाने के प्रस्ताव का विरोध किया जाता है; पर स्नेह के सामने किसकी चली है?

पेड़ पर जाकर अट्ठाईस वर्ष के नौजवान भाई ने पके आम हिलाये और नीचे उतरने लगा; पर जब जमीन पन्द्रह फीट रह गई तब उसका पैर डिग गया। वह सिर के बल जमीन पर गिर पड़ा और एक घंटे के भीतर ठंडा हो गया।

लीची लानेवाला व्यक्ति और अन्य लोग लाश को श्मशान ले गये। चिता जैसे ही रो-रोकर धधकी, लगने लगा कि आसपास के मूक पेड़ भी वैसे ही खड़े-खड़े आंसू बहा रहे हैं। चिता से लौ उठी, मानों मृतक युवा ने कराह कर अपने ६९ वर्ष के पिताजी की ओर देखा। विह्वल होकर पिताजी चिता की आग से मिलने को लपके;

परन्तु कई आदमियों ने मिलकर बूढ़े पिता को चिता पर कूदने से रोक लिया।

संसार के सबसे बड़े डाक्टर—समय—ने बिलखते पिता के दिल के घाव पर मरहम-पट्टी की; पर उसके दिल में २८ वर्ष के लड़के के निधन की टीस बनी ही रही।

छोटा लड़का डाक्टर बना। नाम और दाम दोनों उसने कमाये। बूढ़े पिता को चारों धाम की यात्रा कराई।

सन् १९३५—

छोटे लड़के डाक्टर की उमर ३४ वर्ष होने को आई। उसके यश और कुटुम्ब की वृद्धि से बूढ़े बाप का मझले लड़के की मौत का घाव कुछ सूख-सा गया था। उसकी दुःखद स्मृति कुछ धुंधली-सी पड़ने लगी थी; पर एक दिन शहर के लोगों को उन्मत्तता सूझी। उन्होंने डाक्टर के घर में आग लगा दी और वह अपने बच्चों समेत दम घुटकर खत्म हो गया।

यमुना किनारे लाशों की ढेरी लगी और सबकी होली फूक दी गई। ८० वर्ष के पिता को न जाने कितने लोगों ने चिता पर कूदने से रोका। बेगुनाहों की चिता की लपटें यमुना के दिल को जला रही थीं। अस्त-व्यस्त और पागल की-सी आकृति वाला पिता लोगों की देख-रेख में घर लाया गया।

सन् १९३७—

बूढ़े पिता का ४८ वर्ष का लड़का भी दो-तीन दिन के बुखार में चल बसा। बूढ़े की व्यथा का अनुमान किया जा सकता है। वह शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती।

सन् १९३९—

बड़े लड़के की १८ वर्ष की लड़की विधवा हो गई। अब बूढ़े की उमर ८६ वर्ष की है। वे जीवित हैं; पर वे जिन्दा मुर्दा हैं, क्योंकि 'वही है मौत जो जीना हराम हो जाय।'

लीची लाने वाले व्यक्ति ने बूढ़े से इसलिए बोलना बन्द कर दिया है। कि उसे बूढ़े ताऊ से मिलने की हिम्मत नहीं। क्या कोई दुनिया में ऐसा व्यक्ति है, जो इस अवस्था में उन्हें सान्त्वना दे सके? किस मुंह और किन शब्दों से सान्त्वना दे?

प्रत्येक की ज़बान से यही निकलता है कि परमात्मा ऐसी यातना किसी को न दे। पर वह नहीं बता सकता कि बूढ़े बाबा जीते कैसे रहे हैं?

: ५ :

दो धनी

जब मैं धनकुबेर राथ्सचाइल्ड की तारीफ में सुनता हूं कि उसने अपने अतुल भंडार और असंख्य आमदनी में से हजारों पौण्ड बच्चों की शिक्षा के लिए, बीमारों के इलाज के लिए तथा वृद्धों के पालन-पोषण के लिए दान किये हैं तो मेरा हृदय द्रवित हो जाता है और मैं भी उसकी सराहना करने लगता हूं।

लेकिन राथ्सचाइल्ड की प्रशंसा करते हुए भी मुझे एक किसान-परिवार की याद आये बिना नहीं रहती, जिसने एक अनाथ लड़की को अपनी टूटी-फूटी झोंपड़ी में आश्रय दिया था।

कृषक की स्त्री ने कहा—"अगर हम कटका को अपने घर में रक्खेंगे तो हमारे पास एक पैसा भी न बचेगा और हमें अपनी रोटी बिना नमक के ही खानी पड़ेगी।"

किसान ने उत्तर दिया—"कोई बात नहीं, अलोनी ही खा लेंगे।"

मैं समझता हूं कि राथ्सचाइल्ड को उस किसान तक पहुंचने के लिए अभी बहुत काफ़ी चलना पड़ेगा।

: ६ :

उत्सर्ग

फार्मिडेबिल नामक अंग्रेजी जहाज बड़ी तेजी के साथ चला जा रहा था कि एक साथ बड़े जोर का धड़ाका हुआ। मालूम हुआ कि जर्मनों की किसी पनडुब्बी ने उसपर आक्रमण किया है। जहाज धीरे-धीरे डूबने लगा। उसपर पचासों मल्लाह थे; पर बचानेवाली नाव सिर्फ एक ही थी। बचाने वालों के नाम की पत्ती डाली गई और बारह आदमियों की सूची में एक सीधे-सादे मल्लाह का नाम भी निकल आया। नाव के छोड़े जाने में सिर्फ दो मिनट की देर थी। उस मल्लाह ने अपने एक साथी के कन्धे पर हाथ रखकर कहा—"देखो भाई! मेरे मां-बाप मर चुके हैं। तुम्हारे जीवित हैं। मेरे बजाय तुम जाओ।"

साथी चला गया और वह मल्लाह फार्मिडेबिल जहाज के साथ वहीं समुद्र में डूब गया। इस घटना को घटे लगभग अट्ठाईस वर्ष हो गये (यह घटना महायुद्ध की है); पर आज उस सहृदय वीर मल्लाह के शब्द प्रत्येक सजीव पाठक की हृत्तंत्री के तारों में झंकार पैदा किये बिना न रहेंगे।

उस मल्लाह का नाम क्या था, शायद कोई भी न जानता हो, पर वह अमर है। मातृत्व तथा पितृत्व के प्रति ऐसी प्रेमपूर्ण पवित्र बलि चढ़ाने वाले उस अज्ञात अंग्रेज मल्लाह की जलसमाधि पर क्या कोई कवि चार आंसू चढ़ावेगा?

: ७ :

भद्र जनों की श्रेणी में

स्काटलैंड के एक बहुत विद्वान और प्रतिष्ठित अध्यापक, श्री ब्लैकी आज एक नयी कक्षा में पढ़ा रहे थे। एक विद्यार्थी अपना पाठ पढ़ने के लिए उठा। पुस्तक उसके बाएं हाथ में थी। अध्यापक महोदय ने चिल्ला कर कहा। "पुस्तक दाएं हाथ में पकड़ो।" एक बार कहने पर भी जब छात्र ने पुस्तक दाएं हाथ में न ली तो अध्यापक क्रोधित होकर बोले, "सुनते नहीं; दाएं हाथ से पुस्तक पकड़ो। दाएं में।"

इसपर छात्र ने विवशतापूर्वक दाईं बांह आगे कर दी, जो कलाई से आगे कटी हुई थी और एक करुणा-जनक दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए अत्यन्त दुःख-भरे स्वर में वह केवल इतना ही कह पाया, "श्रीमन्! मेरा एक ही, बांया हाथ है।"

इससे पूर्व कि प्रोफेसर ब्लैकी उठते, सारा कमरा नन्हे-नन्हे स्वरों की आंधी से गूंज उठा और उनकी आवाज इन धिक्कार के स्वरों में डूब गई।

तत्पश्चात् प्रोफेसर ब्लैकी अपनी जगह से उठकर उस छात्र के समीप गए, जिसे उन्होंने अनजाने में इतना दुःख पहुंचाया था। समीप पहुंचकर उसके गले में हाथ डाल वे धीमे स्वर में बोले, "मेरे बच्चे, आशा है, तुम मुझे क्षमा कर दोगे। मुझे मालूम नहीं था।" उनका यह विनम्र स्वर कक्षा के प्रत्येक छात्र ने, जो अभी तक उत्तेजित थे, सुना। तब ब्लैकी कक्षा की ओर मुड़कर गद्गद् कण्ठ से बोले--

"मैं प्रायः सबसे कहता हूं कि मुझे यह देखकर हार्दिक हर्ष हुआ है कि मैं एक भद्र जनों की कक्षा को पढ़ा रहा हूं।"

: ८ :

संयोग

सत्यवती मल्लिक

अतिथि, जिन्हें कल निमन्त्रण दिया गया था, केवल गाय के दूध से बनी वस्तुओं को ही ग्रहण करेंगे। न हो तो रूखी-सूखी रोटी और उबले शाक ही खा लेंगे। पर मुझे यह जंचा नहीं। तुरन्त फल लेने चली गई।

धूप तेज़ थी। दोनों हाथों में फलों के लिफाफे लिए जल्दी-जल्दी सीढ़ियां चढ़ते वक्त दृष्टि एकाएक पीछे अटक गई। एक ऐसा अनमोल रत्न था, जो लाखों-करोड़ों की भीड़ में छिपा नहीं रह सकता—ऐसा रत्न, जिसकी कल्पना नीचे घूमते हुए नहीं की जा सकती थी।

पड़ोस के डाक्टर महोदय का नाम-पता पूछ वे मेरे आगे-आगे सीढ़ियों पर चढ़ने लगे।

डाक्टर साहब आँखों के चिकित्सक हैं। कितने भाग्यशाली हैं कि ऐसे महान व्यक्तियों को भी उनके यहां आंखें दिखाने आना पड़ता है। ऐसी भावना से थोड़ी ईर्ष्या हो आई।

उनकी आंखें खराब हों! चश्मा बदलवाने आए हों! लगता तो नहीं। खैर, कुछ भी हो इस अवसर को जाने नहीं दूंगी।

फलों के लिफाफे वहीं मेज़ पर रख, पूर्व अतिथि महोदय के समय, खाने आदि को भूल मैं किवाड़ खोले प्रतीक्षा में खड़ी हो गई। पर यह क्या? निश्चय ही वे आंखें दिखाने या चश्मा लेने नहीं आए अथवा डाक्टर महोदय ने उन्हें पहचाना ही नहीं! वे उलटे पांव ज़ीने से नीचे उतरे जा रहे थे!

"दो मिनट को इधर भी श्रीमन् ! केवल दो मिनट के लिए...।"

"देखिये, में जल्दी में हूं।..."

किन्तु आग्रह वे नहीं टाल सके। अन्दर आकर आराम-कुर्सी पर वराज गए। उनके बैठते ही क्षण-भर में सारा घर मानों अलौकित हो ठा—एक अद्भुत उल्लास चहुं ओर व्याप गया।

मैं सामने खड़ी-की-खड़ी रह गई। क्या दूं, क्या भेंट करूं, कैसे अभ्यर्थना करूं!

इससे पूर्व भी अनेक अतिथि आए हैं। आग्रह एवं निमन्त्रण से कितनी ही विभूतियों को खींच लाई हूं। किन्तु किसी दिन इस प्रकार अकस्मात् समुद्र-सी गम्भीर,मानसरोवर-सी निर्मल हिमालय के उत्तुंग धवल शिखर-सी उज्ज्वल यह भव्य मूर्ति—वाणी जिसके मुख से साकार शीतल निर्झर-सी झरती है–मेरे घर को पवित्र करेगी, इसकी मुझे कल्पना भी न थी।—नेत्र जिसे देखते थकते नहीं, कान सुनते-सुनते तृप्त नहीं होते, ऐसी कड़ी दोपहरी में सरस्वती का यह वरद पुत्र स्वयं ही इधर आ निकलेगा, इसका मुझे अनुमान भी न था।

घरमें इनके योग्य क्या है, कुछ सूझ न पड़ा। अन्त में पूर्व अतिथि और उनके साथी महोदय ने ही अब मानों मेज़बान बनकर मुझे फलों की ओर संकेत करके सुधि दिलाई।

तश्तरी ढूंढ़े न मिलती थी! पानी के लिए न जाने गिलास कहां खो गया था! किसी प्रकार मैं उन्हें जुटा पाई। और जब उन्होंने बेतकल्लुफ़ी से स्वयं ही एक सन्तरा उठाया और छीलकर ग्रहण किया तब हम सब गद्‌गद् हो गए।

शीघ्र ही उन्हें सेक्रेटरिएट पहुंचना था, टैक्सी मंगाई गई। इतने में मैंने नोटबुक आगे रख दी! उन्होंने लिखा—

"Not the inventors of the new machinery, but the inventors of new values move the world."

—S. Radhakrishnan

2–4–47

अर्थात्—नवीन मशीनों के आविष्कारक नहीं, वरन नए मूल्यों के आविष्कारक विश्व को चलाते हैं। —सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

२–४–४७

अड़ोस में, पड़ोस में, टेलीफोन से, बड़ों, बच्चों, रसिकों, अरसिकों से किस तरह कह-कहकर इस आकस्मिक सुख के वेग को, जो पल-भर में ही मानों जान्हवी की पुण्य धारा-सा आप्लावित हुआ है, सुनाऊं।

सुना है, जगत् संयोग-मात्र है। विशेष प्रकार के वातावरण में विशेष स्वरों के मिश्रण से ही अद्भुत स्वर फूट उठते हैं।

वास्तव में यदि पूर्व अतिथि ऐसी प्रतिज्ञा न करते तो फल लेने भी न जाती। और कहीं ऐन सीढ़ियों के पास चूक जाती तो इस अलौकिक क्षण को खो देती।

: ६ :

नूरी

सत्यवती मल्लिक

जाते-जाते मेरे कदम रुक जाते हैं ।

बरबस नीचे उतर पड़ती हूं—कहीं सथू* के नीचे बेंत वृक्षों के झुरमुट में से होकर, जहां आज मक्का के हरियाले खेत, ओस-बिन्दुओं से भरकर, मुक्ता-से जड़ित, जगमगा रहे हैं । इन ऊंची-ऊंची मक्का की भीतों से उस पार का समूचा सुनहला दृश्य ढक गया है, कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता । सफेदों से पर्वतों की ढलान पर बनी कोठियां । घिरा, दूर नदी का बांध इस श्यामल भू-भाग के दोनों ओर, वितस्ता की मन्थर गति !

× ×

इधर अब वह चहल-पहल नहीं रही । गुलाब की झाड़ियां, मरुए की डालियां, सूखकर झर रही हैं । उनके स्थान पर स्थल-पद्म, सूर्यमुखी बहार लाये हैं । गेहूं के खेतों में जंगली पोस्त जाने कहां विलीन हो गये, सथू के इस ओर के भाग में सब कच्चे-हरे धान फूट रहे हैं ।

किन्तु मेरे मानसिक नेत्रों के सामने आज भी वह चित्र सजीव खड़ा है । वह पतली मधुर आवाज़ (जो आज एक गुंजन मात्र रह गई है) ही मानों सथू से नीचे उतरने को विवश कर देती है । 'कब्रि-मंज़' इतना कहकर मानों वह अपना नन्हा हृदय इस खेत में बिखेर गई हो...

---

* 'सथू' अर्थात्—नदी का बांध ।

खेत अभी बोये नहीं गए थे। कहीं-कहीं हल उठाये, बांध से इस ओर आते हुए किसान दीख पड़ते थे। हां, गिलास, स्ट्राबेरी के खेतों में उल्लास फूटा पड़ता था, सफेद जंगली गुलाब की बेलें सफेदे के नव-पल्लवों से लिपटी पड़ती थीं। गेहूं के गहरे हरे खेतों में जंगली पोस्त दूर-दूर तक लाल मणियों-से झिलमिला रहे थे। और मैं मानों नशे में, मत्त पवन के सहारे पंख फैलाये पक्षी के समान उड़ती जा रही थी। मेरी आत्मा मानों एकाकार हो रही थी उन सामने की बर्फ़ीली चोटियों के साथ ! नववसन्त में निखरी निस्तेज किरणों के साथ उल्लसित हो स्पर्श करती कभी ऊपर धवल शिखरों पर छाई अमर शान्ति को, कभी नीचे प्रभात-रश्मियों द्वारा चुम्बित सजला भूमि को।

तब पवन में उष्णता न थी, उसके नन्हे पतले कांपते हाथ चुपचाप गोबर समेट रहे थे। झुकी हुई ग्रीवा से केश-राशियां दोनों ओर पृथिवी तक झुक आई थीं। लाल टोपी और मलिन फिरन* में भी वह सात-आठ वर्ष की बच्ची कितनी मधुर, कितनी आकर्षक प्रतीत हो रही थी ! पहाड़ी प्रदेश ! चैत मास का प्रभात ! हरियाली, नदी का बांध ! मेरे प्यासे नेत्र क्षितिज से घूमकर चारों ओर उपत्यका से होते हुए, उसी काव्य-प्रतिमा पर आ टिकते। और वह बिना कुछ कहे गोबर समेटना छोड़ मेरे साथ ही उत्सुकता से ऊपर निहारने लगती मानों घड़ी-घड़ी ऊपर अनन्त की ओर देखने का अभिप्राय पूछ रही हो !

स्वयं ही मैं झेंप गई।

कहा—"च्योन नाम के छुस ?"

(तुम्हारा नाम क्या है ?)

"मोज कुत छुस ? घार कुत छुस ?"

(मां कहां है ? घर कहां हैं ?)

जाने कितने प्रश्न एक साथ कर दिये।

---

* 'फिरन'—लम्बा चोग़ा-सा।

कुछ क्षण चुप रहकर बालिका बोली—"नूरी-नूरी ! ओ कुन ! ओ कुन ? थकन। बब छुम न मॉज•छ्यम न। तिम छि बिचार कब्रि मंज़।"*

और मैंने उसके संकेत द्वारा ढलान के एक ओर नदी के पार मज़ार-पोश—नीले सनोबर के फूलों—से घिरी क़बरों की ओर देखा। मेरे झूमते हुए प्राण निरुत्तर हो रहे। मैं उसे क्या सान्त्वना देती ? शीतल पवन से लाल हुए नूरी के दोनों कपोलों पर अपना हाथ रखकर शीघ्रता से ऊ पर लौट आई।

गिरि-श्रृंगों पर बादल घने हो आये थे। यद्यपि उनमें एक ओर से रजत आलोक फट रहा था। नदी का जल सहस्रगुना शोभित एवं तरंगित हो उठा, फूल-पत्तों पर श्यामता अधिक सौन्दर्य छिटकाने लगी। सम्पूर्ण घाटी मानों नृत्यमयी हो उठी हो। किन्तु बार-बार नूरी के 'कब्रि मंज ! कब्रि मंज ! इन दो शब्दों में इस विराट विश्व में छिपी वेदना मेरे अन्तर में सिसक रही थी।

---

*'क़ब्रि मंज' अर्थात्—क़बर में।

: १० :

मां-बेटा

डा० सुशीला नय्यर

एक बार बा और बापू ट्रेन में सफर कर रहे थे। जब जबलपुर-मेल कटनी स्टेशन पर पहुंचा तो वहां दूसरे स्टेशनों से बिलकुल अलग एक जयनाद सुनाई पड़ा, "माता कस्तूरबा की जय !" बा को सहज ही इससे थोड़ा अचंभा हुआ। उन्होंने खिड़की की राह मुंह निकालकर देखा तो सामने हरिलालभाई खड़े थे।

एक ज़माने का तन्दुरुस्त शरीर बिलकुल जर्जर हो गया था। अगले दांत सब गिर पड़े थे। कपड़े बिलकुल फटे हुए थे। खिड़की के पास आकर उन्होंने अपनी जेब से झटपट एक मोसंबी निकाली और कहा, "बा, यह तुम्हारे लिये लाया हूं।"

इससे पहले कि बा जवाब में कुछ कहें, बापू खिड़की के पास आ पहुंचे। उन्होंने पूछा, "मेरे लिए कुछ नहीं लाये ?"

हरिलालभाई ने कहा, "नहीं, यह तो बा के लिये ही लाया हूं। आपसे तो सिर्फ यही कहना है कि बा के प्रताप से आप इतने बड़े बने हैं।"

"इसमें तो कोई शक ही नहीं; लेकिन क्या तू अब हमारे साथ चलेगा ?"

बापू वापस अपनी जगह पर जाकर बैठ गय। मां-बेटे की बात-चीत आगे चली—

"लो बा, यह मोसंबी।"

"कहां से लाया है ?"

"कहीं से भी लाया होऊं। तुम्हारे लिये प्रेम-पूर्वक लाया हूं। भीख मांग कर लाया हूं।"

बा ने मोसंबी अपने हाथ में लेली। लेकिन हरिलालभाई को इससे पूरा संतोष नहीं हुआ। बोले--"बा, यह मोसंबी आपही को खानी है। आप न खायें तो मुझे वापस दे दें।"

"अच्छा, मैं ही खाऊंगी।" कुछ देर तक उनको एकटक निरखने के बाद बा फिर बोली, "तू अपना हाल तो देख ! ज़रा यह तो सोच कि तू किनका लड़का है ! चल, हमारे साथ चल।"

वह बोले "इसकी तो बात ही न करो, बा ! मैं अब इस हालत से उबर नहीं सकता।"

बा की आंखें छलछला आईं। गार्ड ने सीटी दी। ट्रेन चली। चलते-चलते हरिलालभाई ने फिर कहा, "बा, मोसंबी को तुम्हीं खाना। अच्छा ! "

जब गाड़ी ज़रा आगे बढ़ी तो बा को अचानक याद आया कि उन्होंने तो उनको कुछ भी नहीं दिया। बोलीं, "अरे, बेचारे को फल-वल कुछ भी नहीं दिए। भूखों मरता होगा। देखूं, अब भी कुछ दे सकूं तो... ।"

डलिया में से फल निकाल कर बाहर देखा तो ट्रेन प्लेटफार्म पार कर चुकी थी। दूर पर एक क्षीण आवाज सुनाई पड़ी:—

'माता कस्तूरबा की जय !

: ११ :

स्वातन्त्र्य-परिचय

(एक सच्ची घटना)

श्री 'वनचर'

अभी कुछ दिन हुए, मुझे एक राज्य से पांच सौ रुपया इसलिए मिले थे कि मैं उस राज्य के लिए कुछ चीतल (स्वर्णमृग) पकड़ कर भेज दूं, क्योंकि उस राज्य के जंगलों में यह मृग नहीं पाया जाता। कठिन परिश्रम के पश्चात् दो-चार चीतल पकड़ने में सफलता प्राप्त हुई। मैंने उन्हें उक्त राज्य के लिए रवाना इसलिए नहीं किया कि जब दस-बारह पकड़ लूंगा तब इन सबको इकट्ठा भेज दूंगा। इस कारण मैंने उन्हें अपने पास पिंजड़ों में रक्खा। जिस दिन से ये पिंजड़ों में बन्द किये गए, उसी दिन से उन्होंने खाना-पीना छोड़ दिया और घुल-घुल कर प्राण त्याग दिये। मैंने समझा कि पकड़ते समय इनके जो थोड़ी-सी चोट शायद लग गई थी, उसीसे वे मर गये होंगे। अपना जाल मैंने फिर बिछाया और फिर मुझे सफलता हुई। दो-तीन स्वर्णमृग फिर फंस गये। अबकी बार इनके पकड़ने में मैंने बड़ी सावधानी से काम लिया और इन मृगों के तनिक भी चोट न पहुंचने दी; पर इतनी सावधानी रखने पर भी मैं इनकी प्राण-रक्षा करने में असमर्थ हुआ। तब मेरी आंखें खुलीं कि इनके प्राण-त्याग का कारण शारीरिक चोट नहीं, वरन् स्वतन्त्रता खो देने का शोक है। इस घटना से मेरे हृदय पर इतना प्रभाव पड़ा कि मैंने स्वर्णमृगों को पकड़ने का प्रयत्न ही

छोड़ दिया और राज्य के रुपये यह कहकर वापस कर दिये कि यह कार्य मेरे बूते से बाहर है।

तभी मुझे ज्ञात हुआ कि स्वतन्त्रता क्या चीज है और उसका यथार्थ मूल्य क्या है। स्वतन्त्रता देवी प्राणों का बलिदान चाहती है। दूसरे के प्राणों का नहीं स्वयं अपने का।

: १२ :

बेचारा पीटर !

जो पीटर को जानते थे, वे उसकी मृत्यु पर दु:खित नहीं हो सकते, क्योंकि उसे स्वतंत्रता की खोज में निरन्तर लीन रहते देखना एक दर्दनाक दृश्य था।

समुद्र में से उसे पकड़ने के बाद, चार मास तक, जबसे वह जलाशय में डाला गया था, क्षण भर को गतिशील होने से न रुका था। जिसमें वह डाला गया, वह एक बड़ा जलाशय था और उस समय समुद्री पानी का सबसे बड़ा जलाशय माना जाता था; लेकिन उस समुद्र के सामने यह जलाशय क्या था, जिसमें आजतक कोई गया ही नहीं था और पीटर आंधी में और सूर्य की किरणों में भी खुशी से कूदता-फांदता था।

यह केवल एक गन्दा जेलखाना था। यदि पीटर सोचता अथवा अपने विचारों को शब्दों में प्रकट कर सकता तो उसके वे विचार लारेन्स स्टर्न की उस बोलती चिड़िया के जैसे होते, जिसको उसने पिंजरे में हमेशा एक ही रट लगाते सुना था, "मैं छूट नहीं सकती, मैं छूट नहीं सकती।"

चार महीने तक पीटर बिना किसी थकावट के ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर यह सोचता हुआ चक्कर काटता रहा कि शायद निकलने का कोई रास्ता हो; लेकिन वह रास्ता उसे कभी मिला नहीं। उसके लिए खाने को बहुत था, क्योकि बहुत-सी, दिन में चालीस, मछलियां अन्दर डाली जाती थीं। तैरते-तैरते पीटर उन्हें निगल जाता था;

लेकिन यह भी उसके लिए एक पहेली थी, क्योंकि ज्यादा मछलियों का अर्थ था कि अभी आगे और नीला पानी है।

इस तरह से वह मार्ग खोजता रहा। इस प्रयास में वह लगभग २५००० मील चला, जो पृथ्वी की एक परिक्रमा के बराबर है और वह १८० मील की रफ्तार से उस काल कोठरी में तैरता रहा; लेकिन फिर भी वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर कभी नहीं पहुंचा।

फिर भी शायद उसने अपने निर्दिष्ट स्थान को पा लिया। उसके बारे में पूछताछ की जाने पर लोगों ने यह बताया कि वह हृदय की गति रुक जाने के कारण मर गया। हमें विश्वास नहीं है कि उसकी मृत्यु का कारण यह नहीं था कि उसके शरीर में जवान आत्मा निवास करती थी और उसी से उसका दिल टूट गया। जो हो, बंदी अब मुक्त हो गया। अगर समुद्र-विजयी लोगों के लिए कोई स्वर्ग-जैसी जगह होती तो हम सोचते और शायद सोचना सत्य भी होता कि पीटर वहां अपनी वेगपूर्ण चाल से उन डरावनी लहरों से निकल कर और अपने भय-युक्त भूतकाल को भूलकर खुशी से दिन व्यतीत कर रहा है।

: १३ :

सुकरात का विषपान

सत्यवती मल्लिक

संकेत करने पर नौकर अन्दर गया और कुछ ही देर बाद हाथों में एक विष का प्याला लेकर लौटा, जिसे देखते ही सुकरात ने कहा—

"प्रिय मित्र ! ऐसी वस्तुओं का तुम्हें ठीक अनुभव है, कृपा कर, क्या मुझे सही ढंग इसके पीने का बताओगे ?"

"पीकर तुम केवल चलना शुरू कर दो और लगातार चलते ही रहो, जबतक तुम्हारी टांगों में भारीपन न जान पड़े—फिर लेट जाओ। विष अपना कार्य पूर्ण कर देगा।"

यह कहते हुए उसने विष का प्याला सुकरात के हाथों में देना चाहा—जिसने तनिक भी, भय, विशाद अथवा चेहरे का वर्ण बदले बिना, वैसे ही सरलता से, उस व्यक्ति के चेहरे पर दृष्टि डालते हुए हाथों में ले लिया और नम्रता से पूछा—

"क्या मैं इस विषपात्र में से अपने इष्ट देवताओं के प्रति अर्घ्य प्रदान कर सकता हूं।"

"नहीं-नहीं ! इतनी मात्रा सोच-समझकर, केवल सुकरात के लिए ही तैयार की गई है।"

"बहुत ठीक ! तो अब मैं आगामी यात्रा की सफलता के लिए केवल प्रार्थना ही कर लेता हूं।"

तब उसने प्याला होठों से लगा लिया और मुस्कराते हुए निस्संकोच भाव से विष पी गया।

हम लोगों का, जो अबतक कठिनता से अपने को सम्भाले आस-पास बैठे थे, इस प्रकार शांति से विषपान करते देख, बांध टूट गया। बहुत रोकने पर भी मेरे नेत्रों से ऐसी तेजी से आंसू बहने लगे कि मैंने अपना मुख छिपा लिया। सुकरात के कारण नहीं, बल्कि स्वयं अपने पर दुःखी होते हुए--कि ऐसा साथी खो रहा हूं—जोर से रोना शुरू किया। केवल मैं ही नहीं, क्रीटो भी अपने को सम्भाल न सका, आंसू उसकी भी आंखों से वैसे ही झरने लगे और हम दोनों ने इधर-उधर, असंयत दशा में, टहलना शुरू किया। इसी समय अवोलीडरस, जो आरम्भ से ही लगातार रो रहा था, बरबस चीख पड़ा जिससे हम सबका रहा-सहा धैर्य भी जाता रहा। इस महा करुण क्रन्दन के सागर में केवल सुकरात ही मानों हिमाचल की-सी निश्चल शांति को धारण किये थे।

"यह क्या ? इस तरह से रोना, चिल्लाना, विचित्र लगता है। मैंने जान-बूझकर स्त्रियों को इसीलिए परे हटा दिया है। कहीं वे अधीर हो, कर बाधा न पहुंचाएं; क्योंकि मनुष्य की मृत्यु के समय सदा शान्त वातावरण रहना चाहिए।

'मित्रो ! शान्त होओ ! धैर्य रखो !"

सुकरात के मुख से यह वचन सुनकर हमें लज्जा आ गई। आंसू पोंछे।

इधर वह निरन्तर टहलता ही रहा, जबतक उसकी टांगों की शक्ति क्षीण न हो गई। पुनः आदेशानुसार पीठ के बल लेट गया।

वह व्यक्ति जिसने उसे जहर दिया था बार-बार उसके पैरों और टांगों की ओर देखता—कुछ देर बाद उसने एक पैर को जोर से दबा कर पूछा, "क्या इसमें चेतनता अनुभव होती है ?" फिर टांगों को ऊपर-नीचे करते हुए कहा, "विष का प्रभाव हृदय तक पहुंचने पर ही अन्त होगा।"

सुकरात क्रमशः ठंडा होना शुरू होगया। उसने मुंह से तनिक कपड़ा हटाकर, (क्योंकि इससे पहले उसने अपने को भली प्रकार पूरा

ढक रखा था—कहीं उसके चेहरे के बदलते रंग-रूप को कोई न देख सके) कहा—"क्रीटो ! मैंने इकलिप्स से कुछ उधार लिया था—तुम क्या उसे मेरी ओर से लौटा देना स्मरण रखोगे ?"

"निश्चय ही ! ऋण अवश्य चुका दिया जायगा। कहो ! कुछ और कहना है ?"

× × ×

किन्तु उस प्रश्न का उत्तर न था, केवल हल्की-सी गति सुनाई पड़ी। जेलर ने वस्त्र हटाया, आंखें पथरा गई थीं। क्रीटो ने पास जाकर आंखें और मुंह बन्द किया।

× × ×

इस प्रकार हमारे, अत्यन्त बुद्धिमान, न्यायी और उत्कृष्ट मानव साथी का अन्त हुआ, जिसे मैं कभी भूल नहीं सकता !

[सुकरात के एक साथी की डायरी से]